

आर्यभट्ट
विज्ञान-पत्रिका

सितम्बर
१९८१

विज्ञान महाविद्यालय

सम्पादक:
डॉ० विजय शंकर

ओ३म्

आर्यभट्ट

विज्ञान-पत्रिका

सितम्बर १९८१



सम्पादक :

डॉ० विजय शंकर

अध्यक्ष : वनस्पति विज्ञान विभाग

परामर्शदाता :

प्रो० सुरेशचन्द्र त्यागी

प्राचार्य : विज्ञान महाविद्यालय

प्रकाशक :

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

उत्तर-प्रदेश

मूल्य - ५:०० मुखपृष्ठ : प्रेम जुयाल

❀ ❀ ❀



यह बड़े खेद की बात है कि सभी देशों में उन्नति का अर्थ प्रकृति पर
आक्रमण समझा जाने लगा है ...... जरूरत इस बात की है कि
रहन सहन का स्तर भी सुधरे और लोगों को जो कुछ
विरासत में मिला है उसमें कोई फर्क न आये और
न प्रकृति के सौन्दर्य, ताजगी और स्वच्छता
में, जो हमारे जीवन के लिए बहुत
जरूरी है, कोई कमी आए।

इन्दिरा गांधी
प्रधान मन्त्री भारत

सम्पादकीय

वैज्ञानिको ने प्रकृति के गूढ़ रहस्यो का पता लगाकर मनुष्य के हाथों में इतनी जबरदस्त शक्ति देदी है कि यदि इस शक्ति का प्रयोग सुबुद्धि एवं सतर्कतापूर्वक नहो किया गया तो यह शक्ति विश्व के विनाश का कारण बन सकती है। युद्ध के लिए प्रयोग मे आने वाले विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रो की विनाशकारी क्षमता से हम सब परिचित है। अत. यह आवश्यक नही है कि विज्ञान एवं टैक्नालाजी में उन्नति का अर्थ मानव के कष्टों में कमी ही हो। इसका उल्टा भी हो सकता है। विश्व के दो महायुद्ध, वियतनाम की कराहती जनता, समाज मे बढ़ती हुई हिंसा, नैतिक मूल्यों एवं सहृदयता का हनन आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण है। ज्ञान-विज्ञान एवं टैक्नालाजी का उपयोग मानवपरक होना चाहिये न कि शक्ति परक। यह कैसी वैज्ञानिक उन्नति है जिसमे नवजात शिशुओ को माँ के दूध से, जो कि एक आदर्श भोजन है और जो बच्चों के मस्तिष्क के विकास के लिए आवश्यक है, वंचित कर दिया गया और उनको डब्बे का दूध पिलाना उच्च-स्तरीय जीवन का प्रतीक माना जाने लगा। यह जानते हुए कि माँ के दूध के अनेक लाभ हैं— मनोवैज्ञानिक, आहार-सम्बन्धी एवं परिवार नियोजन में। क्या यह वैज्ञानिक युग है जिसमें आधुनिक औषध-उद्योगों ने एक नये रोग को जन्म दिया हैं जिसका नाम है अरोगी (नीरोग)। यह स्वस्थ व्यक्तियो की महामारी हैं। वैज्ञानिक प्रगति एवं विकास का यह कैसा नमूना है, जहां बिना दवाओ के आप शान्ति का अनुभव न कर सके, सो तक न सके, आनन्द न उठा सकें।

आज समाज में अन्धाधुन्ध औद्योगीकरण की नीति ने प्रदूषण की समस्या खड़ी कर दी है— वैज्ञानिक प्रगति की एक नई देन जो सम्पूर्ण मानव जाति को निगलने के लिए पंजे बढ़ा रही हैं। आज विश्व में २३००० प्रकार के व्यवसाय है, किन्तु इसके साथ ही ३००० प्रकार के व्यवसायिक रोग भी पैदा हो गये। और यह सब एक वैज्ञानिक कहे जाने वाले युग में हो रहा है। मनुष्य की बुद्धि का दिवालियापन नहीं तो और क्या है जो वह अपने ही विनाश के बीज बो रहा

है। 'विज्ञान', 'वैज्ञानिक', 'विकास', 'विकसित-देश' जैसे शब्दों का इससे बढ़कर भ्रष्टाचार और क्या हो सकता है ? विश्व के इतिहास में इतनी अधिक हिंसा, जुर्म और भय कभी व्याप्त नहीं हुए जितने कि आज के वैज्ञानिक कहे जाने वाले युग में हो रहे हैं।

यह सच है कि विज्ञान के बिना मनुष्य का कोई भविष्य नहीं है। किन्तु विज्ञान से भी अधिक किसी और चीज की भी आवश्यकता है। यह है विज्ञान एवं टेक्नालॉजी का बुद्धिमत्तापूर्ण एवं मानवपरक उपयोग। एक ऐसे समाज का निर्माण जिस में खुल कर विचार-विमर्श किया जा सके। जहां भय न हो, अहिंसा की भावना हो जो विरोधी विचारों को सहन करे समझे, न कि उसे समाप्त कर दे। जहां कोई महत्वपूर्ण निर्णय छुप कर या चोरी से न लिया जाये जैसा कि जापान पर एटम बम गिराने सम्बन्धी का निर्णय लिया गया है। जीव-विज्ञान के क्षेत्र में विशेषकर जीन के विषय में प्राप्त ज्ञान का भी उपयोग यदि बुद्धिमतापूर्वक नहीं किया गया तो इसके भी परिणाम अत्यन्त भयंकर हो सकते हैं :

"एक जरा सी गलती और पूर्ण मानवजाति कैंसर के रोग से ग्रसित। जरा सी भूल कि ऐसे पादप रोगाणु का जन्म जो समस्त फसलों को जंगल में लगी हुई आग के समान नष्ट करता हुआ बढ़ता चला जाये। बैक्टीरिया की एक नई किस्म का बनाना जो ऐसे विषैले पदार्थ का निर्माण करे जिससे न तो जन्तु और न मानव ही अपनी रक्षा करने से समर्थ हो। अनजाने ही परीक्षण में एक ऐसी भूल जिससे ऐसे मानव का सृजन हो जाये जिसे देखने से भी डर लगे जिसमें मानवीय की अपेक्षा अमानवीय गुणों की भरमार हो—क्रूरता का प्रतीक।"

दूसरी ओर यदि सतर्कता एवं समझदारी से काम लिया गया तो विज्ञान द्वारा प्रदत्त साधन एवं ज्ञान से एक ऐसे संसार की रचना हो सकती है जहां मानवीय गुणों का बाहुल्य हो, हिंसा का नाम तक न हो, खुशहाली हो, हर प्रकार की सुख-सुविधा हो-स्वस्थ संसार। जीव विज्ञान के कतिपय क्षेत्रों में हुई प्रगति भविष्य में ऐसी मानव जाति की रचना करने की सम्भावना की ओर हमें ले जा रही है जो प्रत्येक दृष्टि से सर्वगुण-सम्पन्न हो—सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ, सदाचारी, दीर्घायु, किन्तु वृद्धावस्था के कष्टों से मुक्त नाना प्रकार की कलाओं, विज्ञान एवं टेक्नालोजी में कुशलता प्राप्त। एक महान् वैज्ञानिक, कलाकार या राजनेता के एक प्रकार के अलैंगिक प्रजनन द्वारा जुड़वां बनाने की बातें चल निकली हैं। जुड़वां ही क्यों, उन जैसे असंख्य व्यक्ति--एक पूरा राष्ट्र उन जैसा। एक सुन्दर एवं सर्वगुणसम्पन्न महिला का इसी प्रकार से गुणन--उस जैसी असंख्य महिलायें। अलौकिक बात। गेहूं को एक नई किस्म का बनाना जो अपने नाइट्रोजन की आवश्यकता की पूर्ति मिट्टी से न कर के हवा से करे। इनमें से अनेक सम्भावनाओं के सामाजिक, नैतिक, भावनात्मक एवं धार्मिक पहलू हैं। अतः आवश्यक है कि इनको वास्तविकता में बदलने के पग उठाने से पूर्व इनके सब पहलुओं पर समाज के समस्त विचारशील व्यक्ति गम्भीरता से विचार करें कि इन सम्भावनाओं को वास्तविकता में परिणत करना किस सीमा तक मानव जाति के हित में होगा। इससे निहित खतरों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। ❀ ❀ ❀

प्रकृति बनाम पालन-पोषण :
यमज विश्लेषण द्वारा समस्या का हल

डा० बी० पी० गुप्ता तथा कुमारी इन्दु

मानवता विभिन्नताओं का सागर है। कोई भी दो व्यक्ति एक जैसे नजर नही आते। हाँ, अपवाद के रूप में एक विशेष प्रकार के यमज, जिन्हे समरूप यमज या आइडेन्टिकल ट्विन्ज कहते है, एक जैसे लगते होगे। हमारे इर्द-गिर्द की विभिन्नताओ की स्पेक्ट्रम को समझने के लिए एक व्यक्ति यह जानना चाहेगा कि एक विशेष ट्रेट (विशेषक) कितना आनुवंशिक (हेरिडिटरी) है और कितना उस वातावरण के कारण है जिस मे व्यक्ति पलता है। यह भी है कि वातावरण और आनुवंशिकता का प्रभाव सदा एक ही कोटि का न हो तथा आनुवंशिक तथा वातावरण के कारकों (फैक्टर्ज) मे पारस्परिक क्रिया भी हो सकती है।

इसलिये एक ह्यूमन बायलाजिस्ट की रुचि प्रकृति बनाम पालन-पोषण के अध्ययन के योग-दान में है। मानव के मुकाबले में पौधो और जानवरो में इस निर्णय का कूचना आसान है प्रथम वर्णित जीवधारियो में समजीनियों (जिनोटाइप्स) के द्विक समुच्चयों (डुप्लिकेट सैट्स) का तैयार करना और समान विभिन्न वातावरणों मे आनुवंशिकता बनाम वातावरण के योगदान का अध्ययन करना आसान है। बहुत ही निकटता से यदि कोई मानव में इस विषय पर अध्ययन कर सकता है तो यमजो (ट्विन्ज) के समान विश्लेषण के अध्ययन के माध्यम से हो सकता है। उन्नीसवी शताब्दी मे सर फान्सिस गैलटन ने प्रथम बार ट्विन्न हाइपोथीसिस का विचार प्रस्तुत किया और मानव जैनिटिक्स के अध्ययन में इसका प्रयोग किया। इस परिकल्पना के अनुसार दो प्रकार के यमज होते हैं। एक अण्डे से बने ट्विन्ज को अब एक युग्मजि (मोनाजाइगोटिक) कहते हैं, ये समरूप होते है।

दो अण्डो से बने ट्विन्ज को द्वियुग्मजि अथवा डाइजाइगोटिक कहते हैं जो कि फ्रेटर्नल

(ग्रामीय) कहलाते हैं । पहली प्रकार के ट्विन्ज में अन्तर असमान विदलन (क्लीवेज) या शरीर क्रियात्मक और वातावरण के कारणों से हो सकता है जबकि दूसरी प्रकार के ट्विन्ज में एक जोड़े के सदस्य सिब्ज (वंशिक रिश्ते वाले) को तरह बर्ताव दिखाते है और उनमें पाये जाने वाले अन्तर जैनिटिक, तथा फिजियालाजिकल और वातावरणीय होते हैं ।

ट्विन-जन्म की आवृति अलग अलग आबादियों (पापुलेशन्ज) में ४.५१ से ०.८ प्रतिशत तक होती है और एक पापुलेशन में जातीय ग्रुपों के अनुसार बदल सकती है । द्वियुग्मजि ट्विन्ज की आवृति में एक युग्मजि ट्विन्ज की अपेक्षा अधिक भिन्नतायें होती हैं। ट्विन्ज की आवृति माँ की आयु पर भी निर्भर करती है ।

ट्विन्ज की पहचान और उनका उद्गम भ्रूण विज्ञानी अध्ययन, समरूपता लक्षणाध्ययन, ऊतक रोपण विधियों से तथा सुसगतिक विश्लेषण द्वारा ज्ञात किया जा सकता है । भ्रूण विज्ञानी विधियां जन्म झिल्लिक पर आधारित हैं । एक ही जरायु में बन्द सभी यमज एक युग्मजि होते है पर दो जरायुओं में बंद सभी यमज सदा द्वियुग्मजि नही होते । लगभग सभी यमज अलग-अलग उल्बों(एमनियान) में बन्द होते हैं लेकिन यदि एक ही उल्ब हो तो यमज सदा एक-युग्मजि (मोनो जाइगोटिक) होते हैं । इस सम्बन्ध में अपरा (प्लासेंटा) की संख्या एक विश्वसनीय कसौटी नही है ।

समरूपता लक्षणाध्ययन में अनेक गुणों (फिनोटिपिक केरेक्टर्स) का प्रयोग होता है। ये गुण अनेक जानों पर आधारित होते हैं ।

यमजों में गहरी अनुरूपता को एक-युग्मजि का और अन्तरों को द्वियुग्मजि (डाइजाइगोसिटी) का प्रमाण माना जाता है। सर्वोत्तम लक्षणाध्ययन तभी होता है जब यमजो की आयु अनेक वर्ष की हों क्योंकि शिशुओं में अनेक विशेषक स्पष्ट नही हो पाते हैं ।

त्वचारोपण (स्किन ग्राफ्टिंग) में पाई जाने वाली ऊतकीय विरोधता (हिस्टो इनकैमपैटिबिलिटी) दाता और ग्राही के ऊतको के विभिन्न समजीनियों (जीनोटाइप्स) के कारण होती है । निसन्देह यदि दाता और ग्राही एक युग्मजि हों तो स्थाई और सफल रोपण किया जा सकता है । इसलिये यदि आवश्यकता पड जाए तो ऊतक रोपण को निर्णायक कारक के रूप में प्रयोग किया जा सकता है ।

यमज अध्ययन से प्राप्त किए गए आंकड़े प्रकृति बनाम पालन-पोषण के योगदान का विश्लेषण करने में निम्नलिखित जानकारी देते हैं:—

१. समरूप यमज जोड़ेके दो सदस्यों का जिनका पालन-पोषण उसी परिवार में किया गया हो जैसा कि साधारणतया किया जाता है, सम-

लक्षणी (फिनोटिपिक) अध्ययन विभिन्न वातावरण के प्रभाव के बारे में जानकारी दे सकता है।

२. समरूप यमज जोड़े के दो सदस्यों के वातावरणीय अन्तरों की कोटि की असमरूप जोडों के दो सदस्यों जो वातावरणीय और आनुवंशिक अन्तरों में पनपते हैं की कोटि के साथ तुलना से असमरूप यमजों में प्रकृति और पालन-पोषण का अन्तर पैदा करने की शक्ति का पता लगाने का समाधान मिल सकता है।

३ समरूप यमज जोडो के दो सदस्यो जिनको अलग-अलग घरो मे पाला-पोसा गया हो, तथा समरूप जोडों के दो सदस्य जिनको इकट्ठा पाला-पोसा गया हो, के अन्तरों की तुलना से यह पता लगाया जा सकता है कि घरों के वातावरण ने यमज जोड़ों में कौन-कौन से अन्तर पैदा किये या बढ़ाये।

सुसंगति (कोनकारडन्स) बनाम विसंगति (डिस्कारडेन्स) विश्लेषण में एक जोड़े के यमज सुसगत माने जाते हैं, जब दोनो में एक ही विशेषक (ट्रेट) हो या वे इससे हीन हों। और यदि जोड़े के केवल एक ही सदस्य मे एक विशेषक नजर आये तो वे विसंगत जाने जाते है। कोनकारडेन्स का मान उन विशेषको की भी आनुवंशिकता ज्ञात करने के काम आ सकता है, जिन की वंशागति (इनहैरिटेंन्स) की प्रणाली निश्चित नहीं है।

ऊपर दिये गये विश्लेषण का प्रयोग करते हुए प्रकृति बनाम पालन-पोषण की समस्या का निर्णय निम्नलिखित विशेषको के लिए कई शारीरीय विशेषकों जैसे– ऊंचाई, वजन, सिर की लम्बाई, सिर की चौड़ाई, शरीर-क्रियात्मक विशेषकों जैसे– रुधिर, चीनी, नाड़ी की गति, ब्लडप्रैशर और प्रथम रजोधर्म, व्यावहारिक विशेषक जैसे– मृगी का रोग, साइजोफ्रेनिया, मैनिक डिपरसिव साइकोसिस, बुद्धिमत्ता-भागफल, परसनल टैम्पो, साइकोमोटर एक्टीविटी, अपराधिकबर्ताव, कानजनाइटल मलफार्मेशन, कोढ़ और काफी सख्या में बहु–कारकीय-विशेषकोंव तथा छूत के रोगों के लिए गहराई से अध्ययन की जा चुकी है।

प्राप्त आंकड़ो के ध्यानपूर्वक किए गए अध्ययन से और उनके विश्लेषण से प्रकृति बनाम पालन-पोषण के आपेक्षिक-योगदान का पता लगता है। वंशागतित्व के अनुमान केवल विभिन्न विशेषको के लिए ही परिवर्तनशील नहीं है बल्कि अलग-अलग देशों की अलग-अलग आबादियों की जातियों में भी परिवर्तनशीलता दिखाते हैं। एक-युग्मजि यमजों में पाई जाने वाली सुसंगति केवल किसी विशेषक को प्रकट करने तक ही सीमित

नहीं है अपितु किसी विशेष रोग या व्यवहार को भी प्रकट करती है।

यमजों की समरूपता और असमरूपता को समझाने के लिए हम सारिणी–१ में दिए गए शरीर-रचना सम्बन्धी विशेषकों के आंकड़ों पर विचार कर सकते हैं।

सारणी—१ : विशेषकों के लिए यमज विश्लेषण

विशेषक	समरूप यमज पालन-पोषण इकट्ठा	समरूप यमज पालन-पोषण अलग-अलग	असमरूप यमज	सिब्ज
औसत अन्तर				
ऊंचाई (से.मी.)	१.७	१.८	४.४	४.५
भार (कि.ग्रा.)	१.९	४.५	४ ५	४.७
सिर की लम्बाई (मि.मी)	२.९	२ २	६.२	—
सिर की चौड़ाई (मि.मी)	२.८	२.८५	४.२	—
सह सम्बन्ध				
ऊंचाई	.९३२	.९६८	.६४५	.६००
भार	.९१७	.८८६	.६३१	.५८४
सिर की लम्बाई	.९१०	.९१७	.६९१	—
सिर की चौड़ाई	.९०८	८८०	.६५४	—

सारणी–१ मे दिये गये आंकड़ों से यह प्रमाणित होता है कि समरूप यमजों मे, फ्रेटर्नल (भ्रात्रीय) यमजों या सिब्ज के मुकाबले कम अन्तर होते है। इनमें अन्तिम दो, एक जैसे कोटि के होते है क्योंकि फ्रेटर्नल ट्विन्ज का व्यवहार उसी प्रकार का है जैसा कि दो सिब्ज का। दूसरी तरफ जब समरूप यमजों का पालन-पोषण अलग-अलग होता है तो उनमे उतने ही बडे अंतर पाये जाते है जितने कि सिब्ज मे, उन विशेषको के लिए पाए जाते है जो वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित होते है जैसे कि शरीर का भार। ये अन्तर गृह सम्बन्ध के अनुमानों में जिनकी समरूप ट्विन्ज में पूर्ण १ होने की और फ्राटर्नल ट्विन्ज और सिब्ज में आधा होने की आशा की जाती है, की अभिनती के लिए भी जिम्मेदार है।

दो प्रकार के यमजों की सुसंगति (कोनकारडन्स) के आंकड़े उन विशेषकों के भी वंशागतित्व (हैरिटेबिलिटी) को प्रभावकारी रूप से प्रदर्शित कर सकते है जिनके लिए वंशागति की प्रणाली निश्चित नही है और जिनके लिए वातावरणीय सुधट्यता अधिक होती है जैसे कि सारणी–२ में दिखाया गया है।

सारणी—२

विशेषक	प्रतिशत एक-युग्मजि सुसगति	प्रतिशत द्वि-युग्मजि सुसंगति	प्रतिशत वंशागतित्व
एपीलेप्सी (मिरगी रोग)	८६	४	८५
शाइज़ोफ्रेनिया	८०	१३	७७
मैनिक डिप्रेसिव साइकोसिस	७७	१९	७२
अपराधिक बर्ताव	७४	२०	६८
ब्लड प्रेसर	६३	३६	४२
नाडी गति	५६	३४	३३
बैठने का समय	८२	७६	२५
चलने का समय	६८	३२	५३

सारणी–२ में दिये गये आंकड़े एक युग्मजि और द्वि युग्मजि यमजों की आम घटना को सुसंगति (कोन कोरडन्स) के लिए हैं। कोनकारडन्स डाटा और इसी प्रकार वंशागतित्व के अनुमान एक आबादी से दूसरी आबादी में पापूलेशन की आनुवंशिक संरचना, अध्ययन किए गए प्रतिदर्श के आकार और वातावरण के योगदान पर निर्भर करते हुए बदलते रहेंगे।

* * *

आंवला वृक्ष का वनस्पतिशास्त्रीय नाम 'एम्बेलिका-वर्टन' है। यह भारत के पतझडी जंगलों में मिश्रित रूप से पाया जाता है। इसकी लकड़ी सबसे अच्छी ईंधन लकडी है जिसका कैलोरी मान ५१७७५५५८० कैलोरी है। यह घरों के बागों व आंगनों में भी लगाया जाता है। विटामिन सी का सर्वोत्तम स्रोत आंवला है स्कर्वीनामक रोग में यह अत्यंतोपयोगी है। इसका फल कच्चा भी खाया जाता है। सूखा हुआ फल डायरिया, भीतरी चोटों, पेचिस, एनिमिया एवं पीलिया में उपयोगी है। तथा पुरानी पेचिस में भी आंवला और नींबू-शरबत मिलाकर पीने में इससे छुटकारा मिल जाता है। त्रिफला-चूर्ण में आंवला भी सम्मिलित होता है। सिर दर्द, कब्ज, जिगर के बढ़ने तथा अम्लता के बढ़ जाने पर लाभकारी सिद्ध होता है। साथ ही यह शक्तिवर्धक भी है। इसके फल को लिखाई की स्याही; बालों को रंगाई के सामान बनाने मे प्रयुक्त किया जाता है। सूखा आंवला बाल धोने के काम आता है। इसका तेल काली एवं घनी केश-राशि के लिए उपयोगी है। इसके बीजों का चूर्ण आंखों की मंद दृष्टि व सूजन, जोड़ों के दर्द, पित्त-दोष मतली, आदि के लिए उपयोगी है।

राष्ट्रीय वनस्पति अनुसंधान, लखनऊ नवीन अनुसंधानों के परिप्रेक्ष्य में

—सतीश कुमार श्रीवास्तव,
रामकिशोर टण्डन

राष्ट्रीय वनस्पति अनुसंधान संस्थान (नेशनल बोटैनिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट),लखनऊ ने अपने देश की प्रमुख राष्ट्रीय समस्याओं के सन्दर्भ मे, अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान एव विकास-कार्यक्रम अपने हाथ में लिये है, जिनके अन्तर्गत खेती से भिन्न, गैर परम्परावादी और कम उपयोग किये जाने वाले पौधो से सम्बन्धित नई वनस्पति–कच्ची सामग्री के विभिन्न स्रोतों का उपयोग करने हेतु यहाँ अनुसंधान किये जा रहे है जो इस प्रकार हैं—पौधो की खोज, उनका प्रवेश, उन्हे नई जलवायु के अभ्यस्त बनाना, सरक्षण, प्रवर्धन (प्रोपेगेशन), आनुवंशिक (जेनेटिक) उन्नति और सुरक्षा एवं कृषि–वनस्पति विज्ञान विषयक अध्ययन । उस उद्देश्य से मूलभूत और व्यावहारिक वनस्पति विज्ञान के अनुसंधान हेतु यहा विशेषज्ञाएं उपलब्ध है । पिछले वर्षों मे, इस संस्थान ने योजनाबद्ध रूप से यहाँ के उद्यान को विकसित किया है जिसमें वृक्षोद्यान, गुलाब बाडी, फर्न हाऊस, संरक्षणशाला (कजरवेटरी), कैक्टर हाऊस, ताड गृह (पाम हाऊस) और अंगूर वाटिका शामिल हैं। इसके अतिरिक्त, यहाँ सजावटी पौधो की विभिन्न किस्मों का संग्रह उपलब्ध है, जिनमे २६०० से अधिक वर्गक (टैक्सॉन) शामिल है । इस संस्थान ने देश-भर मे व्यापक रूप से वनस्पतियों की छान-बीन करके एक समृद्ध वनस्पति सग्रहालय (हर्बेरियम) की स्थापना की है। यहाँ एक लाख से अधिक पौधों के नमूने सग्रहित हैं जिनकी उचित रूप से पहचान करने के साथ-साथ उनका वर्गीकरण भी किया गया है । अनुसंधान कार्य मे वैज्ञानिको की सहायता के लिये यहाँ एक विशाल एव समृद्ध पुस्तकालय है जिसमे देश-विदेश के ५१८ ग्रंथ और रिप्रिन्ट्स उपलब्ध है। इस संस्थान के अन्तर्गत ८५ हेक्टेयर के क्षेत्र में फैला हुआ लखनऊ से लगभग १३ कि.मी की दूरी पर बंथरा मे एक क्षेत्र अनुसंधान केन्द्र स्थित है,

जहाँ आर्थिक पौधों को लगाकर कृषि सीमान्त भूमि के उपयोग हेतु इसका प्रसार-प्रायोगिक-निदर्शन केन्द्र के रूप मे इस्तेमाल किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त, बंगलौर की राष्ट्रीय वैज्ञानिकी-प्रयोगशाला (नेशनल-ऐरोनाटिकिल लैबोरेटरी) के कैम्पस मे सजावटी पौधो के प्रवेश हेतु एक प्रायोगिक केंद्र इस सस्थान द्वारा खोला गया है।

प्रमुख उपलब्धियां

१. शैवाल-जैवमात्रा (बायोमास) का गन्दे नाले के मल-मूत्र से बड़े पैमाने पर उत्पादन—

स्पाइरुलाइना प्लेटेसिस की गणना प्रोटीन से भरपूर शैवालो मे की जाती है। इस सस्थान ने ऐसी सम्पूर्ण विधि विकसित की है जिसके द्वारा गन्दे नाले के मल-मूत्र से इस पौधे की बड़े पैमाने पर खेती इस उद्देश्य से की जाय कि सौर ऊर्जा का अधिकतम उपयोग होने के साथ-साथ बेकार पदार्थों का पुन: उपयोग हो सके। शीघ्र ही उत्तर-प्रदेश राज्य स्थित लखनऊ गजरिया फार्म मे पालतू मुर्गियो पर इस सम्बन्ध मे बड़े पैमाने पर खाद्य परीक्षण किये जाने वाले हैं।

२. जैवमात्रा (बायोमास) उत्पादन केन्द्र—

आज परम्परागत ईंधन के प्राप्त होने मे कठिनाई उत्पन्न होने एवं उनके मंहगे होने के कारण हमारे सामने ऊर्जा संकट खड़ा हो गया है। इस संस्थान के बंजरा अनुसंधान की कृषि सीमांत भूमि पर केन्द्र सरकार के वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी विभाग की देख रेख में ईंधन और ऐल्कोहाल हेतु जैवमात्रा के उत्पादन तथा पैट्रोलियम के अनुकल्प (एवजी) तैयार करने के लिये एक समयबद्ध प्रायोजना आरम्भ की गई है। इस केन्द्र के दो प्रमुख भाग हैं– 'जैवमात्रा उत्पादन' और जैवमात्रा रूपान्तरण'। उत्तर-प्रदेश सरकार के समाज-वानिकी विभाग के सहयोग से यहाँ १४ जातियो के तेजी से बढ़ने वाले ऐसे ३५०० वृक्षों को लगाया जा रहा है जिनकी क्षमता के बारे मे कोई सन्देह नही है। ऐल्कोहाल के उत्पादन हेतु, जो केन्द्रीय औषध अनुसधान संस्थान, लखनऊ के सहयोग से प्रारम्भ होने वाले है, यहाँ टेपिओका, चुकन्दर, गन्ना, और मीठे सोरघम (ज्वारवर्ग) की चुनी हुई किस्मो को लगाने का कार्य चालू है। इसके अलावा, यहां रबड़क्षीर (लैटेक्स) वाली यूफार्बिया की कई जातियां लगाई गई है और तरल ईंधन तैयार करने के उद्देश्य से इनके फाइटोमास का रासायनिक संसाधन कार्य भारतीय पैट्रोलियम संस्थान, देहरादून के सहयोग से चल रहा है। इस अनुसंधान कार्य से भविष्य में काफी अच्छी संभावनायें हैं।

३. विलक्षण आर्थिक पौधे—

इस संस्थान ने कृषि से भिन्न और ऐसे कुछ पौधों के प्रवेश और उन्हें यहां की स्थानीय जलवायु के अभ्यस्त बनाने में काफी सफलता प्राप्त की है जिन्हें आमतौर पर परम्परागत रूप से उगाया नहीं जाता। इस सन्दर्भ में 'होहोबा' (साइमॉन्शिया चाइनेन्सिस) 'सेहुंड' (यूफॉर्बिया-तिरुकैलाई), 'ग्वायूली' (पार्थेनियम अर्जेण्टेटम) और चौकोनी सेम (सोफोकार्पस टेट्रागोनोलोबस) इत्यादि पौधों के नाम उल्लेखनीय है।

होहोबा नामक पौधा बढ़िया किस्म के चिकनाने वाले (लुब्रीकेटिंग) पदार्थ का स्रोत है तथा यह स्पर्म ह्वेल तेल का एक अनुकल्प (एवजी) भी है। इस पौधे को ऊतक संवर्धन (टिशूकल्चर) द्वारा बड़े पैमाने पर उगाने की तकनीक यहाँ विकसित की गई है। ग्वायूली पौधा, जो प्राकृतिक रबड़ का एक अच्छा स्रोत सिद्ध हो सकता है, उसकी प्रायोगिक खेती यहाँ की जा रही है। इसी प्रकार, सेहुंड (यूफॉर्बिया तिरुकैलाई) एक होनहार पेट्रो-क्राप है जिसकी बड़े पैमाने पर यहाँ खेती की जा रही है तथा इसके नमूनों का ससाधन, चल रहा है। चौकोनी सेम (सोफोकार्पस टेट्रागोनोलोबस) एक प्रोटीन बहुल फली है जिसे मनुष्य के खाद्य पदार्थ और पालतू पशुओं के चारे के रूप में इस संस्थान द्वारा उत्तर भारत में प्रवेश कराया गया है। इसके अतिरिक्त, अधिक उपज वाली ऐमारन्थस की कुछ ऐसी जातियाँ यहाँ विकसित की गई हैं जो सहायक खाद्यान्न का स्रोत तो है ही लेकिन लाइसीन अंश भी इनमें प्रचुर होता है।

४ ग्रामीण विकास हेतु तकनालॉजी

इस संस्थान ने सम्पूर्ण कृषि क्रियाओं सहित निम्नलिखित तकनालॉजियाँ विकसित की हैं और इनकी जानकारी ग्राम स्तर तक पहुंचाई जा चुकी हैं

(अ) पान की खेती में सुधार—हमारे देश में लगभग ६७० करोड़ रुपये के पान का व्यवसाय होता है। लेकिन इसकी खेती अनेक रूढ़ियों और बीमारियों से ग्रस्त है। इस संस्थान ने पान की 'फुट राट' और 'लीफ राट' नामक बीमारियों की रोकथाम हेतु प्रभावी उपाय खोज निकाले है और इसकी जानकारी तथा रोगमुक्त रोपण सामग्री पान-उत्पादकों को उपलब्ध कराई है। अभी हाल में इस संस्थान ने पान की खेती को उन्नत बनाने के लिए यहां एक अखिल भारतीय गोष्ठी आयोजित की थी जिसका पान-उत्पादकों द्वारा काफी स्वागत हुआ।

(आ) खुम्बियों (मशरूम) का छोटे पैमाने पर उत्पादन—यहाँ चार खाने योग्य खुम्बियों की खेती करने की सम्पूर्ण तकनालॉजी विकसित की,

गई है जिसके लिए वातानुकूलन/वायुशीतन (एयर कंडीशनिंग/कूलिंग) का सहारा नही लेना पड़ता। इन खुम्बियों के नाम इस प्रकार हैं— बटन मश रुम (एगरिकस बाइस्पोरस), पैडी स्ट्रा मशरूम (वाल्वेरियला वाल्वेसिया); ढिगरी (प्ल्यूरोटस सेजरकाजू) और प्ल्यूरोटस सिस्टिडियोसस। इन खुम्बियों को उगाने की तकनालॉजी सम्बन्धी जानकारी केवल इस सस्थान तक ही सीमित नही है, बल्कि लखनऊ जिले मे बंथरा के समीपवर्ती ग्रामीण लोगों को भी इससे परिचित कराया जा चुका है। इन तकनालॉजियो से विकसित खुम्बियां अब साल भर खाने के लिए उपलब्ध रहती हैं।

(इ) **उत्तर भारत में अंगूर का उत्पादन**: इस संस्थान के महत्त्वपूर्ण अनुसंधान के फलस्वरूप, उत्तर भारत मे अंगूर की तीन किस्मो जैसे मसकेट आफ हेमबर्ग, पर्लेट और बिउटी सीड्लेस का प्रवेश हो चुका है। जहां तक अगूर की 'भोकरी' किस्म से अगूर उत्पादन के पूर्वानुमान तथा 'थाम्पसन सीडलेस' और मेडीलीनएञ्जीवाइन, किस्मों की सुप्तावस्था को भग करने तथा इनमे अगूरों के शीघ्र पक जाने का सम्बध है, इस सस्थान ने सफलता प्राप्त की है।

(ई) **दमस्की गुलाब (डमस्क रोज) का उत्पादन और उन्नत आसवन**:—यहां फूलों के उत्पादन और उनके उन्नत आसवन (डिस्टिलेशन) की तकनालॉजियां विकसित की गई है तथा सिनवार-शाकलपुर (एटा जिला, उ०प्र०) तथा हसायन (अलीगढ़ जिला उ०प्र०) जैसे गुलाब उत्पादक क्षेत्रों के किसानों को इनसे परिचित कराया जा चुका है। गुलाब-उत्पादकों और उद्योगपतियों पर इसकी समान प्रतिक्रिया हुई है।

(उ) **फूलों को सुखाना**— (डिहाइड्रेशन): ग्रामीण दस्तकारी के रूप में यहाँ ताजे फूल-पत्तियों को सुखाने की एक पूर्ण तकनालाजी विकसित की गई है जिसका उपयोग घर की भीतरी सजावट, बधाई पत्रो, वाल प्लेट और दृश्य भूमि (लैण्डस्केप) के रूप मे किया जा सकता है।

(ऊ) **जन जातियों का मानवजाति वनस्पति विज्ञान विषयक अध्ययन**— इस संस्थान द्वारा खीरी जिले के ४१ थारु गाँवों का सर्वेक्षण इस उद्देश्य से किया गया है कि जन जातियो और आदिम जाति के लोगो द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले तथा अन्य आर्थिक सम्भावना वाले पौधो के बारे मे जानकारी इकट्ठा की जाय। इस संबध मे काफी सूचनाए मिली हैं जिनके आधार पर कत्था, चटाई, जूट, और झाडू के घरेलू उद्योगों की स्थापना करके यहाँ के लोगों के आर्थिक स्तर को सुधारना सभव है।

५ औषधीय एवं सुगंधित पौधे तथा जड़ी-बूटियाँ—

यूनानी चिकित्सा केन्द्रीय परिषद की एक योजना के अन्तर्गत इस संस्थान में, प्रामाणिक जर्म-प्लाज्म, जड़ी बूटियों से निर्मित अशोधित औषधियों और उनके अपमिश्रकों तथा अनुकल्पों (एवजी) के नमूनों हेतु एक केन्द्रीय बूटी उद्यान (हर्ब गार्डन) स्थापित किया गया है और 'एक वनस्पति संग्रहालय (हर्बेरियम) तथा संग्रहालय (म्यूजियम) की स्थापना की जा रही है। देशी जड़ी-बूटियों से निर्मित औषधियों की एक पूर्ण सूची का संकलन इस संस्थान द्वारा किया गया है जिसमें ६४५ पादप जातियां शामिल है। उपर्युक्त पादप जातियों के वनस्पति-वर्णन के अन्तर्गत ४० औषधियों का वितरण और उनके देशी नाम दिये गये है। कुछ महत्वपूर्ण औषधीय पौधों की आनुवंशिक उन्नति और उनकी अधिक उपज के बारे में यहां खोज की गई है और इस सम्बन्ध में डाइस्कोरिया, सोलेनम, ट्राइगोनेला, ऐट्रोपा बेलाडोना, पोस्ता (पैपवर सोमनीफेरम) इत्यादि पादप जातियां उल्लेखनीय है।

परिवार नियोजन में उपयोगी गर्भनिरोधक गोलियों को तैयार करने हेतु डायोसजेनिन अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए इस संस्थान ने उत्तक और अग्र संवर्धन (टिशू एण्ड आर्गन कल्चर) के माध्यम से डाइओस्कोरिया फ्लोरीबंडा के पौधों को कम कीमत पर बड़ी मात्रा में शीघ्रता से तैयार करने हेतु एक सम्पूर्ण विधि विकसित की है। 'जैस्मिनम ग्रेन्डीफ्लोरम' 'राजा हैमासीना' 'अबेलमास्कस मॉस्केटस' और 'मैट्रोकेरिया चमोमिला' इत्यादि को देशी सुगन्धियों और सगन्ध तेलों के बारे में उनकी तिजारती खेती से सम्बन्धित कृषि-क्रियाओं को ध्यान में रखते हुये यहां ब्यौरेवार विचार किया गया है।

इस संस्थान ने दमश्की गुलाब के फूलों से अधिकतम इत्र प्राप्त करने हेतु एक प्रक्रम विकसित करने के अलावा एक क्षेत्रीय आसवन यूनिट का डिजाइन भी तैयार किया है। इसके अतिरिक्त यहां सुगन्धित जल और इत्र के छोटे पैमाने पर आसवन (डिस्टिलेशन) हेतु एक नया उपकरण भी बनाया गया है जिसे राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

६. कृषि से भिन्न औद्योगिक बीज स्रोत—

इस संस्थान द्वारा लेग्युमिनेसी कुल के ५० वंश के पौधों की २५० जातियों के देशी बीजों का सर्वेक्षण और छानबीन की गई है और ज्ञात हुआ है कि इनकी ७० जातियों के पौधों के बीजों में लसदार पदार्थ बहुतायत में मिलता है। इसके अतिरिक्त, ढेंचा पौधे के बीजों से औद्योगिक गोंद निकालने हेतु एक प्रक्रम को

यहाँ व्यापारिक बनाया गया है और उपोत्पाद (बाइ-प्राडक्ट) के रूप मे प्राप्त प्रोटीन युक्त खाद्य-पदार्थ मुर्गियों या पालतू पशुओ के आहार के रूप मे इस्तेमाल किया जाता है। राष्ट्रीय संचारी रोग सस्थान, नई दिल्ली और इस सस्थान के सहयोग से, लारवा पकडने हेतु कुछ लसवार बीजो के उपयाग के लिये कार्य हुआ है और उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुये है। इसके अलावा 'मधूका ब्यूटीरेशिया' के गिरीदार फल-वसा से औषध निर्माण हेतु उपयोगी पामिटिक अम्ल (५५ प्रतिशत) के तैयार करने हेतु पूर्ण तकनालोंजी यहां विकसित की गई है।

७. पुष्प-कृषि—

इस सस्थान ने पुष्प-कृषि व्यापार को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने एव सजावटी फूलो के निर्यात को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से निम्नलिखित कार्यक्रम अपने हाथ मे लिये है।

(अ)नई विकसित किस्मे:—गामा किरणन (इरैडिएशन), सकरण (हाइब्रिडीजेशन) बहुगुणिता (पालीप्लाएडी) और चयन के माध्यम से यहां प्रसिद्ध सजावटी पौधों को ६५ से अधिक किस्में विकसित की गई है जिनमे से प्रमुख निम्नप्रकार हैं– गुलदाउदी, एमारेंथस, बोगेनविलिया, ग्लैडिओलस, हरसिगार और गेदा इत्यादि।

(आ) गुलदाउदी में योजनाबद्ध रूप से फूल खिलाना:— आमतौर पर गुलदाउदी मे लगभग ६ सप्ताह तक फूल खिलते हैं। लेकिन इस सस्थान द्वारा किये गये अनुसधान के फलस्वरूप दीप्तिकालिक नियन्त्रण (फोटोपीरियाडिक कट्रोल) द्वारा गुलदाउदी का पुष्पकाल मध्य सितम्बर से मार्च तक, लगभग ६ महीने तक बढ़ाया जा सका है जिससे इसके उत्पादको को अधिक लाभ मिल सकता है।

(इ) गुलदाउदी की देर से और शीघ्र खिलने वाली किस्में— यहां गुलदाउदी को शीघ्र (सितम्बर-अक्टूबर) और देर से(फरवरी-मार्च) खिलने वाली ऐसी किस्मे विकसित की गई है जिन्हें हम जब चाहे उस महीने में उगा सकते हैं।

(ई) एफ हाइब्रिड गेदे:—अफ्रीकी गेदे की एक नर, अनुर्वर, ऊची किस्म को त्रिगुणित (ट्रिप्लाएड) गेदे के एफ, सकर बीज तैयार करने की पूर्ण तकनालोंजी यहा सम्पन्न हुई हैं तथा व्यापारिक उत्पादन हेतु इसका मानकीकरण किया गया है।

(उ) ऊतक संवर्धन (टिशूकल्चर) द्वारा आर्किड तैयार करना — कुछ तिजारती आर्किड

के पौधों को उगाना बड़ा कठिन होता है। इस संस्थान ने इन्हें बड़े पैमाने पर तैयार करने हेतु एक तकनालॉजी विकसित की है।

(ऊ) **सजावटी पौधों का प्रवेश और उन्हें जलवायु के अभ्यस्त बनाना:**—यहां कई सजावटी महत्व के जंगली पौधों का प्रवेश कराके उन्हे यहां की स्थानीय जलवायु के अभ्यस्त बनाया गया है। अन्य फूलों के अतिरिक्त इस संस्थान की गुलाब वाडी में कुल मिलाकर गुलाब की ७०० किस्में उपलब्ध है।

(ए) **फूलों को फूलदान में अधिक समय तक लगाना:**— इस संस्थान ने ऐसी व्यवस्था बनाई है जिसमे ग्लैडिओलस, गुलदाउदी, ट्यूबरोज और बोगेनविलिया इत्यादि सजावटी पौधो के फूलो को फूलदानो मे अधिक समय तक सजाकर रखा जा सकता है।

* * *

हम में से बहुतों को विभिन्न प्रकार की बालू और मिट्टी मे कतई रुचि नही होती। परन्तु वैज्ञानिक कुछ और ही प्रकार के प्राणी होते है। वे तरह-तरह के बालू और मिट्टी को न केवल जमा करते हैं अपितु उन्हें गर्म करके, आग में डाल कर अथवा उन्हें अन्य रसायनों से मिलाकर भी देखते है और इस प्रकार विभिन्न प्रकार के चमचमाते कांच और नयनाभिराम पिरच प्याले आदि बना डालते हैं।

पुनर्जन्म

—इन्द्रजीत सिंह बिगड़ा

मनुष्य अथवा किसी अन्य प्राणी की देह-समाप्ति हो जाने के बाद भी कुछ शेष रह जाता है। इस सहज जिज्ञासा से जुड़ा हुआ है पुर्नजन्म। भारत, अमरीका, कनाडा, जर्मनी, फ्रांस व ब्रिटेन आदि देशों में पुर्नजन्म के ऐसे कई उदाहरण सामने आ चुके हैं। जिसमे मनुष्यो ने अपने पूर्व जन्म के बारे में बिल्कुल ठीक तरह से बताया है। जिसमें उन्होने अपने माता पिता व अन्य सम्बन्धियों के नाम तक बता दिये है। जिनसे कि वह इस जन्म में नही मिला। अपने रहन–सहन व दिनचर्या के बारे मे जो कुछ उसने बताया उसे उसके पूर्वजन्म के माता-पिता व सगे सम्बन्धियों ने सही माना है। वैज्ञा-निक और विशेष रूप से परा वैज्ञानिक इस विषय पर लगभग एकमत हैं कि पिछले जन्म की घटना का विवरण देने वाले ये तमाम व्यक्ति सही और खरे हैं। मगर इन उदाहरणो के आधार पर यह स्वीकार करना ठीक न होगा कि पुर्नजन्म एक सार्वभौमिक सिद्धांत अथवा प्रकृति की अब तक न समझ पायी गयी कार्यविधि का हिस्सा है। इसलिये आज के वैज्ञानिकों के लिये यह एक पहली बनी हुई है कि फिर-फिर जन्म क्यों होता है।

परन्तु ऐसे तीखे मगर सारगर्भित प्रश्न अगर सबसे पहले कहीं पूछे गये है तो वे है इस महान भारत देश की महान कृतियां 'उपनिषदों' में हैं। जिन और कई प्रश्नो को हमारे महान पूर्वजो ने हजारो वर्ष पहले बता दिया था वे आज एक-एक करके सत्य साबित हो रही है। हमारे पूर्वज बहुत महान वैज्ञानिक थे। उन्होने हजारो वर्ष पहले उपनिषदो मे आत्म अस्तित्व क्या है, क्यो है, जिन पर आज का वैज्ञानिक खोजरत है।

उदाहरण के लिये श्वेताश्वतर उपनिषद मे पूछा है कि मन चंचल क्यो रहता है? 'बृहदा-ण्यक उपनिषद का यह प्रश्न कि मनुष्य जब सो जाता है तो बुद्धि कहां जाती है।" केनोप-निषद का यह प्रश्न कि "आदमी किसकी इच्छा से बोलता है।" कुछ इसी तरह का प्रश्न कि 'देहान्त के बाद भी कुछ ऐसा है जो बच जाता है।' उपनिषदों से जन्मी यह भारतीय दृष्टि कालान्तर मे अद्वैत वेदान्त तक आते-आते एक व्याप्त स्थापना के रूप में फलित हुई।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निरन्तर विकासशील रहता है। आधुनिक युगमें पहली बार इस स्थापना की पुष्टि हुई आइन्सटिन के इस कथन द्वारा कि यूनीवर्स लगातार प्रगति पर है। अद्वैत वेदान्त ने इस विषय को दो वर्गों-ब्रह्म और माया मे विभाजित किया है। वेदान्त ने ब्रह्म को इस जगत का निमित्त और उपादान दोनो का कारण बनाया और कहा कि सृष्टि-रचना के लिये ईश्वर माया को 'द्वारा' बनाता है। माया परम सत्ता की बीज शक्ति है और उसके अनेक रूप व नाम है। अद्वैत वेदान्त ने साथ मे यह भी कहा कि आग को जलन जिस तरह आग से अलग नही उसी तरह माया भी ब्रह्म से अलग नही। इसी माया को अद्वैतवादियो ने मानसिक क्रिया कहा जबकि ब्रह्म को अपरिणामी, नित्य और चैतन्य है।

मा यासत्, रज और तम तीन गुणो वाली है। आकाश से, वायु से, अग्नि से, जल से, पृथ्वी के उत्पन्न होने तक की क्रिया में यही तीन गुण माया द्वारा क्रियाशील रहते है। वेदान्त इन पाच महा-भूतो को सूक्ष्म तत्त्व वा तन्मात्रा कहता है। इन पंच तन्मात्राओ में जब सात्विक अंश की प्रधानता होती है तब आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से क्रमशः श्रोत, स्पर्श, चक्षु, जिह्वा और घ्राण नाम वाली पांच ज्ञानेन्द्रिया पैदा होती है। इन्हीं के कारण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध का बोध होता है।

पांच तन्मात्राओं के सात्विक अंश द्वारा बुद्धि, मन, चित्त, और अहकार जैसी आन्तरिक कृतिया बनती है। जिनमे ज्ञानेन्द्रियो व कर्मेन्द्रियो का प्रेरक बनता है मन। पचीकृत भूतो से पैदा स्थूल देहका नाम है अन्नमय कोश जो देह के साथ ही समाप्त हो जाता है। शरीर मे स्थित पाच वायु और पाच कर्मेन्द्रियो के योग का नाम है प्राणमयकोश। यह कोश भी आत्मा से भिन्न है। पांच ज्ञानेन्द्रियो के योग को मनोमय कोश कहा गया है तथा बुद्धितत्त्व युक्त पाच ज्ञानेन्द्रियो को विज्ञानमयकोश। अंतिम कोश सतगुणवाली अविद्या से संचालित आनंदमय कोश है।

भारतीय दृष्टि के अनुसार देहान्त के बाद भी न मरने वाला सूक्ष्म शरीर पाच ज्ञानेन्द्रियों पाच कर्मेन्द्रियो, पाच प्राण, एक बुद्धि और एक मन के योग से बना है। यही वह सूक्ष्म शरीर है जो प्रारब्ध और संचित कर्मों के कारण देहान्त के बाद फिर-फिर जन्म लेता है।

सूक्ष्म शरीर की अवधारणा केवल भारतीय ही हो सकता है ऐसा नही है। 'द इजिप्शियन बुक आफ डेड' मे भी सूक्ष्म शरीर के बारे मे विचार प्रकट किये गये हैं।

ग्राकसफोर्ड विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के डायरेक्टर डा० सोसिल ने अपने प्रयोगों के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि स्थूल शरीर के समानान्तर कोई एक सूक्ष्म सत्ता है जो सभी सांसारिक बन्धनों के बावजूद कभी-कभी शरीर छोड़ कर दूर चली जाती है। हालांकि एक रूपहले तार द्वारा हर हालत में स्थूल शरीर की नाभि से जुड़ी रहती है। जब कभी यह रूपहला तार किसी कारणवश टूट जाता है तो उस सूक्ष्म सत्ता का स्थूल शरीर से कोई सम्बन्ध नही रह जाता और इससे अक्सर व्यक्ति की असमायिक मृत्यु हो जाती है।

विश्व के वैज्ञानिको द्वारा की गई खोजों के आधार पर पता चलता है कि अणु के भीतरी भाग में एक तरह की नियति है। अणु के भीतर के इस शून्य से ही सूक्ष्म शरीर की रचना होती है। परन्तु इस शून्य द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म शरीर का आकस्मिक स्थूल शरीर को छोड़ कर चला जाना ही आज के वैज्ञानिक के सामने एक पहेली है। परन्तु आज का वैज्ञानिक इस पहेली को सही रूप मे सुझाने के लिये इस महान देश भारत के अद्वैत वेदान्त या अन्य कई उपनिषदों की सहायता ले सकता है।

इन आधारों पर यह कहने मे कोई सकोच नही है कि वैज्ञानिक 'पुनर्जन्म' की पहेली को जल्द ही सुलझा लेगा। परन्तु भारतीय वेदान्तवादियों का कहना है कि वैज्ञानिक जितने भी प्रयोग करें वे हमारे अद्वैत वेदान्त का समर्थन अन्त मे करेंगे ही। भले ही उनके द्वारा कही गयी भाषा अद्वैत से भिन्न हो। पर वह अद्वैत वेदान्त द्वारा प्रयोग की गयी भाषा का ही दूसरा रूप होगा।

★ ★ ★

वेदों में सूत्र रूप से विज्ञान

—डा० रामेश्वर दयाल गुप्त

स्वा० दयानन्द सरस्वती से पहले के वेद भाष्य जो उपलब्ध हैं, प्रायः दाक्षिणात्य, द्रविण, मैथिल अथवा काश्मीरी ब्राह्मण हैं यथा सायण, महीधर एवं उवट प्रभृति। इन सब भाष्यों मे वेद-मंत्रों का अर्थ मात्र यज्ञ या तन्त्रपरक है। यत्र-तत्र अध्यात्म की भी पुट है। पर दयानन्द सरस्वती वेदो को ईश्वर द्वारा सृष्टारम्भ मे मानव के उन्नयन, अभ्युदय और निश्रेयस की उपलब्धि हेतु दिया विधान मानते थे। अतएव उसमें वैज्ञानिक सिद्धान्तों का सूत्र रूप मे होना अनिवार्य था। उन्होंने अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में कतिपय ऐसे वेद मन्त्र उद्धृत किये हैं जिनमें वाष्प, विमान, तार, वेतार खगोल व नक्षत्र विज्ञान के सूत्र उपलब्ध हैं। उनके समय तक लोक वेद में आयुर्वेद का मूल तो मानते थे जो कि शरीर-विज्ञान है, पर भौतिक तथा नक्षत्रीय विज्ञान का होना किसी ने नहीं दर्शाया। देने उनकी इस मान्यता को मूर्त्त रूप के लिये ही हमारे से अगली पीढ़ी के विद्वानो ने शीर्षस्थ गुरुकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय में पहले उद्योग कक्ष और फिर विज्ञान कक्ष भी स्थापित किया था। पर कक्षा विभाग के संस्कृतज्ञ शास्त्री यज्ञ करने-कराने और अध्यात्म पर ध्यान देने मे ही मस्त रहे। उन्होंने वैज्ञानिको को सम्पर्क में लेकर वेद में वैज्ञानिक तथ्यो का आधुनिक परिपेक्ष्य में अनुसन्धान तथा परीक्षण नही किया। इस प्रकरण में आचार्य श्रीराम शर्मा ने ब्रह्मवर्चस शोधसंस्थान स्थापित किया है जो यज्ञीय पौधो, यज्ञ धूम, यज्ञचिकित्सा तथा ध्यान प्रक्रिया मे मन व मस्तिष्क की स्थिति पर आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणो से परीक्षण करके पौरणिक मान्यताये सिद्ध करने मे संलग्न है। माननीय महेश योगी जी भी अपने भावातीत ध्यान पर परीक्षण कराके ध्यान व नामस्मरण आदि का महत्व सिद्ध करना चाहते हैं। प्रतीत होता है कि हम पिछड़ गये हैं।

अपनी मान्यता सिद्ध करने हेतु मैने "हमारा विज्ञान" नामक पुस्तक तैयार की है जिसमें भौतिकी रसायन, खगोल विद्या, नक्षत्रीय विद्या, गणित, सांख्यिकी, भाषा विज्ञान, आयुर्विज्ञान, ध्यान-योग आदि पर वेदादि में उपलब्ध सूत्रों का संकलन किया है। पुस्तक दिल्ली में छप रही हैं। यहाँ हम वेदों में चन्द्रमा पर दिये सूत्रों को उद्धृत करते है, जिस पर मेरी पुस्तक में एक पूरा अध्याय है।

१. चन्द्रमा के प्रकाश का कारण सूर्य रश्मियाँ हैं :—

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टरपी च्यम् ।
इत्था चन्द्रमसो गृहे । ऋग्वेद—१।८४।१५ ॥

इसके व्याख्यान मे यास्काचार्य कहते हैं कि इस चन्द्र गृह को दीप्तिका कारण आदित्य ही है। सूर्या यत्पत्ये ससन्ती मनसा सविता ददात् । यही बात ऋ० १०।८५।६ मे कही है:—

सोमोवधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्यां यत्पते शंसन्ती मनसा सविता ददात् ।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि सूर्य से ही चन्द्र प्रकाशित है।

२. वैदिक वाङ्मय सदैव से चन्द्रमा को लोक मानता रहा है। लोक जीवो के निवास स्थान को कहते हैं। अब जब चन्द्रमा पर मनुष्य पहुंच गया है, तब उसका पृथ्वी की तरह एक लोक तो सिद्ध हो गया है। अभी वहां हमारी तरह के शरीरावयव वाले जीव नही मिले हैं, पर पृथ्वी, जल, आकाश, वायु तथा अग्नि मे से क्रमश एक या दो या अधिक समिश्रण पर आधारित शरीरधारी होना सदा सम्भाव्य है।

३. भारत मे क्षत्रियो के तीन वंश प्रसिद्ध है—सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि। यह अपना उद्भव क्रमशः सूर्य, चन्द्र व अग्नि से मानते हैं। अग्नि का तात्पर्य तो उनसे है जो आबू पर्वत पर यज्ञ मे से प्रकट हुए थे। अर्थात् वे विदेशी जिन्हें यज्ञाग्नि से शुद्ध करके क्षत्रिय वर्ण दिया गया था। पर अन्य दो अपना उद्भव सूर्य तथा चन्द्र से मानते है। पौराणिक दन्तकथाये तो असम्भव बातो से भरी हैं पर यह खोज का विषय है कि किंवदन्ती का मूल आधार क्या है।

४. चन्द्रमा सूर्य का पुत्र है।

ऋग्वेद १०।६०।१३ मे कहा है—

चक्षोः सूर्यो अजायत। चन्द्रमा मनसो जातः॥

इस पुरुष सूक्त में सूर्य का जन्म विराट पुरुष के नेत्रो से तथा चन्द्रमा की उत्पत्ति उसके मन से बताई है। ऋग्वेद ६।३ के अनुसार चन्द्रमा सूर्य का पुत्र है। वह सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित हो ता है:—

अधिश्रियधीरधि त सूर्यस्य ॥ ऋ० ६।७।६ ॥
स सूर्यस्य रश्मिभि. परिव्यत॥ ऋ. ६।८६।३२॥

चन्द्र पर पडने वाले इस सूर्य के प्रकाश को वेद मे 'सुषुम्ण रश्मि'' कहा है:—

सुषुम्ण· सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः यजु० ।१८।४०

५. परन्तु इसे विराट पुरुष का मन क्यो कहा है? वास्तव में चन्द्रमा हमारे मन को स्थितियो

का नियन्त्रक है। यो तो जिस रज वीर्य से किसी मानव का जन्म होता है उसका, तथा पूर्व जन्म के संचित सस्कारों के अनुसार मन होता है और व्यवहार करता है, पर इधर चन्द्रमा के मन पर प्रभाव को समझने हेतु अमेरिका मे कुछ प्रयोग किये गये हैं।

फरजस वुड० (अमेरिका नेशनल ओशन सर्वे) ने कहा है कि जब पृथ्वी, सूर्य और चन्द्रमा एक लाइन मे होते है, तब समुद्र के जल का ज्वार अत्यन्त तीव्र होता है। अलबर्ट लीवर ने निष्कर्ष निकाला कि शराबी, दवाखोर, बुद्धि पगु तथा जरायम वृत्ति वाले व्यक्ति पर पूर्णिमा तथा नवोदित चन्द्रमा वाली रात्रि को अत्यधिक प्रभाव होता है। मनुष्य के शरीर मे ८०% पानी तथा २०% और कुछ है। अत समुद्र के जल की तरह मनुष्य पर चन्द्रमा का प्रभाव पड़ता है। उसने अपने जिले की पुलिस को चेतावनी दी कि ऐसी रात्रियो को अपराध अधिक होगे और वास्तव मे कत्ल आदि की संख्या दोगुनी हो गई, जब सूर्य, चन्द्र वा पृथ्वी ८ जनवरी को एक ही लाइन मे थे। उसने निम्न निष्कर्ष परीक्षणोपरान्त लिखे हैं:—

१. फोनैक्स (अरीजोना)के आग बुझाने वाले विभाग ने बताया कि पूर्णचन्द्र का रात्रि मे और रात्रियों की अपेक्षा २५ या ३०% अधिक आग लगने की घटनाये रिपोर्ट हुई।

२. पागलखानों में पूर्णचन्द्र वाली रात्रि को पागलों का व्यवहार क्रूरतर होता है।

३ चन्द्रमास के बराबर समय ही में स्त्री का मासिक स्राव होता है (साढे २६ दिन)तथा गर्भ मे बच्चा पूर्ण होने मे ६ चन्द्रमास लगते हैं।

यह स्पष्ट है कि इन ग्रहो व नक्षत्रो का प्रभाव शरीर स्थित हारमौन,द्रव्य तथा घोलो पर पड़ता है जिसमे बिजलीका प्रभाव(ELECTRLOYTE) कहते है। हमारी खाल मे होकर बिजली चुम्बक की शक्ति रेखाये प्रवेश कर जाती है जिनके प्रभाव से हरेक Nerve मे शक्ति क्षेत्र पैदा होता है, इस शक्ति क्षेत्र पर आकाशीय नक्षत्रो का प्रभाव पड़ता है। जब तीनो ग्रह उक्त प्रकार एक लाइन मे होते है तब पृथ्वी की आकर्षणशक्ति तथा इन चुम्बकीय शक्तिक्षेत्रो पर बृहद आक्रमण होता है। तब हमारा नस नाड़ियो मे क्रोधादि उत्पन्न हो जाता है। शरीर के कुछ भागो मे पानी का कमी जो पैदा हो जाता है। उसने देखा कि कुछेक ऐसे क्षणों मे बासियो लाग एक ही समय मे अथाह्न गहराई गर्त्त मे डूबे, तेज दिल धड़कन वाले हो जाते है। लायल वाटसन ने तो यहा तक कहा है कि मनुष्य का शरीर समुद्र की नकल है। तथा सोडियम पोटेसियन, मैंगनेशियम, कोबाल्ट, क्लाराइड तथा जिन्क समुद्र की ही भाँति है और उनपर चन्द्र आदि का प्रभाव पड़ता है। (Readers Digert न व० ८० से साभार उद्धृत) इसीलिए हमारे यहां पूर्णिमा

अमावस्या के विशेष यज्ञों का विधान है। तथा यह तिथियाँ पुरुष-स्त्री समागम में निषिद्ध है।

६. वेद में ग्रहण की चर्चा—

पृथिवी की छाया से चन्द्र ग्रहण और चन्द्रमा की छाया से सूर्य ग्रहण होता है। यह विषय निम्न ऋचाओं में आया है:—

सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यावसुर.।
अक्षत्रेविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीघ्यि:।
ऋ० ५।४०।५ ॥

तथा

यं वै सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुर:।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन्।
ऋग्वेद ५।४०।९ ॥

७. चन्द्र ग्रहण—

विधु दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्यकाव्यं महित्वा अद्या ममार स ह्यःसमान।
अथर्व ९।१०।९ ऋग्वेद १०।५५।५

निरुक्त १४।१८ में इसकी अधिदैवत पक्ष में व्याख्या है कि युवक विधु चन्द्रमा है, पके बालों वाला वृद्ध सूर्य है। इन दोनों का मानों युद्ध हो रहा है। रात्रि में चन्द्रमा प्रबल हो जाता है तथा दिन में सूर्य। पर इस मन्त्र का अथर्व १९।१।१० से समीकरण करें तो युवक को विधु (चन्द्र) है ही, राहु वृद्ध है जो उसे निगल जाता है। यों चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश पाता है। पर जब वह इस दिशा में आता है कि सूर्य और चन्द्रमा के मध्य में पृथिवी आ जाती है तब वह उस प्रकाश को रोक लेती है और चन्द्रमा को जाने वाला प्रकाश रुक जाता है। इसी को चन्द्र ग्रहण कहते हैं। यह कोण विशेष ही राहु है, जब पृथिवी बीच में आ जाती है। तभी मन्त्र में कहा है कि युवक को वृद्ध ने निगल लिया। देव का चमत्कार देखो जो कल जीवित था वह आज मरा पड़ा है।

(यह व्याख्या श्री रामनाथ विद्यालंकार कृत है)

* * *

कटहल गूलर और आमला के वृक्षों से हम सभी परिचित हैं? वैज्ञानिक शोध से पता चला है कि इन तीनों से प्राप्त लकड़ी सबसे अच्छी ईंधन लकड़ी है।

प्राचीन भारत में सैनिक संगठन एवं युद्ध कौशल

— कैप्टन वीरेन्द्र अरोड़ा

ऐसा माना जाता है कि वैदिक काल मे राजाओं के पास कोई निश्चित सेना नहीं होती थी। युद्ध के समय उनको स्थानीय लोगों पर निर्भर करना पड़ता था, जो अपने हथियार लाते थे तथा उनका अपना सेनापति होता था। यह व्यवस्था राजा स्थानीय कर लगा कर किया करते थे।

वैदिक साहित्य मे महाभारत की चार तरह की सेना चतुरंग बाला एवं चतुरंग कामू का प्रसंग नही आया है। सेना का संगठन दो प्रकार का था—(१) पट्टी सेना—पैदल लड़ने वाले जवान। (२) रथो का सेना—जो रथो पर बैठकर युद्ध किया करते थे।

यह सेना का संगठन न केवल प्राचीन भारत में ही था, परन्तु सारे प्राचीन संसार मे प्रचलित था। ऋग्वेद मे हाथी को जंगली जानवर के नाम से जाना गया है, और युद्ध में इसका वर्णन नहीं आता है।

वैदिक काल से पूर्व युद्ध निम्न प्रकार से लड़ा जाता था —जब शत्रु आर्यों की सेनाओं के निकट पहुंचता था, तो तरह-तरह की रुकावटें, खाइयां खोदना, लकड़ी की बाधाएँ आदि बनायी जाती थी और देवताओं की सहायता एवं आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनको चढ़ावा अर्पित किया जाता था, तथा प्रार्थना की जाती थी। तत्पश्चात् सेना ऊँचे स्वर से युद्ध गान गाते हुए, ड्रम आदि बजाते हुए और ध्वज फहराते हुए शत्रु की तरफ बढ़ती थी। उन दिनो युद्ध के दौरान ध्वजा का विशेष महत्व था। युद्ध मे रथ सेना पीछे रहती थी एवं पैदल सेना आगे। योद्धा रथ के बायें खड़ा होता था और उसके पास सारथी का स्थान होता था। पैदल सेना शत्रु के निकट पहुंच कर ललकारती थी तथा युद्ध किया करती थी। योद्धा पीतल का कवच और टोप से अपना बचाव करता था और शत्रु पर वार के लिए तीर कमान का प्रयोग करता था। उस समय तीर की नोक पर जहरीला पदार्थ लगाया जाता था। तीर कमान के साथ २ भाले, कुल्हाड़ी, बल्लम और गुलेल आदि का प्रयोग भी होता था। युद्ध में विजयी होने पर विजेता जोर-जोर से ड्रम आदि बजाते थे, और अग्नि जलाकर देवताओं को गानों तथा बलिदान द्वारा धन्यवाद दिया जाता था। तत्पश्चात् जीत के माल का बटवारा किया जाता था। आर्य लोग अपनी सीमाओं की सुरक्षा हेतु तथा कभी-कभी

पड़ौसी राज्यों पर अपनी शक्ति-प्रदर्शन के लिए आक्रमण किया करते थे।

वैदिक युग में सैनिक दृष्टि से राजा के पुरोहित का विशेष महत्व था। वह राजा को युद्ध के विषय में परामर्श देता था एवं युद्ध की स्थिति में उसे युद्ध के धर्म से अवगत कराये रखता था।

युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले पुरोहित राजा के रथ के पश्चिम में खड़ा होता था और उस अवसर के अनुरूप ऋग्वेद से मन्त्रों का उच्चारण करता था। पुरोहित स्वयं राजा को तीर-कमान आदि से सुसज्जित करता था। इस काल में निश्चित हथियारों के बारे में अनुमान लगाना कठिन है। परन्तु अधिकतर प्रयोग में आने वाले हथियार तीर और कमान थे। इनकी चर्चा वेदों में कई बार आयी है —

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँऽउत।
अनेशन्नस्य या ऽइषवऽआभुरस्य निषङ्गधिः॥

कमान का विशेष महत्व था, इसकी डोरी में चर्बी का प्रयोग होता था। युद्ध के इतिहास में अग्नि हथियार का प्रयोग होने से पहले अधिकतर तीर कमान का प्रयोग होता था। इसी लिए प्राचीन समय में सैनिक शिक्षा "धनुर्विद्या" के नाम से जानी जाती थी और इस विद्या में निपुणता कुशल योद्धा का प्रतीक था। तीर-कमान के अतिरिक्त भाले, तलवार, कुल्हाड़ी, गुलेल आदि का नाम हथियारों में आता है, परन्तु इनका युद्ध में अधिक प्रयोग नहीं होता था।

शत्रु को जाल, फन्दा आदि से गुमराह करके भी पराजित किया जाता था। (अथर्व० ८-८)

युद्ध में वाद्ययन्त्रों में दुन्दुभि, बक्कुरा आदि का प्रयोग किया जाता था। आर्यों ने अपनी सुरक्षा के लिए कभी किले एवं शस्त्रागार नहीं बनाए। आर्य लोग दस्यु जाति के तीव्र आक्रमण के भय से असुरक्षा के वातावरण में रहा करते थे, जिनको अन्तमें पराजित किया गया था। आर्यों को अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके किले प्राप्त हुए थे जिनका इन्होंने सही रूप से उपयोग किया था। इस बात का कई बार प्रमाण मिलता है कि दस्युओं के पास वे किले होते थे।

किले अधिकतर पत्थर द्वारा बनाए जाते थे। कभी-कभी ईंटों द्वारा भी बनाये जाते थे।

उपर्युक्त यह विचारधारा आधुनिक लेखकों की मानी जाती है। परन्तु महर्षि दयानन्द जिन्होंने कि वेदों का पुनरुद्धार किया है, उनकी मान्यता है कि आर्यों का जन्म स्थान यही तिब्बत है जो कभी भारतवर्ष का अंग था, इस लिए उनकी मान्यता है कि आर्य श्रेष्ठ और न्यायप्रिय व्यक्ति को कहा जाता था। दुष्ट प्रवृत्ति के लोगों को

दस्यु कहा जाता था और यह देवासुर-संग्राम के नाम से प्राचीन भारत में प्रसिद्ध है। आर्यों को अति प्राचीनकाल से ही अच्छी से अच्छी शस्त्र-विद्या का ज्ञान था जैसा कि यजुर्वेद मे कहा है कि शीशे की गोलियों से शत्रु का नाश करे।

'शीशेन विध्याम''। (यजु अ २६)।

इसी प्रकार वेदो में विमान सेना और जल सेना का भी वर्णन आया है।

आर्य राजाओ की परम्परा मे मनु को सर्व-प्रथम राजा माना है। सेना और शस्त्र विद्या के विषय मे मनु स्मृति मे अति विस्तार और सूक्ष्म-रूप से वर्णन उपलब्ध है। प्राचीन शस्त्र-अस्त्र विद्या का वर्णन वेदो से लेकर समस्त प्राचीन साहित्य मे प्राप्त होता है। इसलिए आधुनिक विद्वान जोकि ५००० वर्ष से इधर उधर पूर्व वैदिक-काल, वैदिककाल, उत्तर वैदिककाल, मनु-स्मृति काल और ऐतिहासिक कालो आदि नामो से विख्यात करते है। उनकी यह विचारधारा उचित प्रतीत नही होती है। क्योंकि भारतीय परम्परा के अनुसार ५००० वर्ष तो केवल महाभारत काल को होते है। महाभारत में यह स्पष्ट वर्णित है कि उस समय ऐसे तीव्र मार करने वाले शस्त्र थे, जिनके परिणामस्वरूप महाभारत युद्ध को अकेला योद्धा १ मिनट से लेकर १० दिन तक समाप्त करने की घोषणा करता था। इससे सिद्ध होता कि सैनिक शिक्षा और युद्ध कौशल की शिक्षा अपनी चरम सीमा पर थी। उसका एक उदाहरण चक्रव्यूह रचना का दिया जा सकता है। युद्ध की इस विधि का ज्ञान आज भी किसी देश को प्राप्त नही है।

इसी प्रकार रामायण काल मे आग्नेय शस्त्र, वरुण शस्त्र का वर्णन मिलता है जिसका अभि-प्राय है कि आग्नेय शस्त्र से गैस निकलती थी और नरसंहार करती थी। वरुण शस्त्र से जल की तत्काल इतनी वृष्टि होती थी कि आग्नेय शस्त्र से छोडी हुई गैस शान्त हो जाती थी। इस प्रकार से शिव शस्त्र आदि अनेक शस्त्रो का नाम आता है, जिनको विमान से छोडा जाता था। इन शस्त्र और विमानों का वर्णन विस्तृतरूप से भरद्वाज मुनि द्वारा विरचित बृहद् विमान शास्त्र में मिलता है। स्वयं भरद्वाज मुनि कहते हैं कि— यह शस्त्र विद्या का ज्ञान मैने वेदो से प्राप्त किया है। इस लिए यह कहना उचित ही है कि वेदों में सैन्य-सगठन, युद्ध कौशल आदि का वर्णन मिलता है।

* * *

हिन्दु गणितज्ञों की महान् उपलब्धि : 'शून्य'

प्रो॰ हरबन्सलाल

गिनती का इतिहास अत्यन्त रोचक है। जब हम गिनती की बात करते है तो प्राय: हमे अभिप्राय १, २, ३, ४, ५,... आदि संख्याओं से होता है जिन्हे प्राकृतिक सख्याये कहते हैं। इनके अतिरिक्त और भी सख्या पद्धतियां (Number Systems) है। विभिन्न सख्या पद्धतियो के अनुसार संख्याये निम्न प्रकार की होती हैं—

१. प्राकृतिक सख्याये (Natural Numbers)

२. पूर्ण सख्यायें (Integers)

३. परिमेय संख्याये (Rational Numbers)

४. वास्तविक सख्याये (Real Numbers)

५. काल्पनिक संख्याये (Imaginary Numbers)

प्राकृतिक संख्याओं से काल्पनिक संख्याओं तक के विकास की भी एक रोचक कहानी है। विभिन्न संख्या पद्धतियां विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु विकसित हुई। संख्याओ के इतिहास के प्रारम्भ से ही इनको लिपिबद्ध करने के प्रयास के सकेत प्राप्त होते है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में संख्याओं के लिखित रूप मे प्रदर्शित करने के लिए कुछ चिन्हों एवं भाषा लिपियो का सहारा लिया गया।

मिस्र में अपनायी गयी प्रणाली के अनुसार एक को I से, तथा दो को II से, तीन को III से नौ को $\frac{\frac{III}{III}}{III}$ से, दस को ∩ से, सौ को ⁰ से आदि प्रदर्शित किया जाता था।

ग्रीक लोगों ने वर्णमाला के अक्षरों एवं कुछ विशिष्ट चिन्हों की सहायता लेकर संख्याओं को लिपिबद्ध करना शुरु किया था—एक को A से, दो को B से, तीन को T से, चार को Δ से, पांच को E से, छः को E से, सात को Z से,

आठ को H से, नौ को 0 से, दस को, I से, सौ को P से आदि।

मय लोगों ने एक से चार तक की संख्याओं को उतनी ही बिंदियों से, पांच को एक सरल रेखा '—' से, छः को _._ से, सात को _.._ से, आठ को _..._ से, नौ को _...._ से, दस को = से, सौ को एक विशेष चिन्ह से प्रदर्शित किया।

रोमन लोगों ने एक विभिन्न प्रणाली अपनायी एक के लिये I, दो के लिए II, तीन के लिए III, चार के लिए IV, पांच के लिये V, छः के लिए VI, सात के लिए VII, आठ के लिये VIII, नौ के लिये IX, दस के लिये X, पचास के लिए L, सौ के लिये C, पांच सौ के लिये D, एक हजार के लिये M आदि का प्रयोग किया।

इस प्रकार सभ्यता के विकास के विभिन्न युगों में विभिन्न देशों में अलग-अलग संख्या-लिपि-पद्धतियां अपनाई गईं। संख्याओं की आधारभूत प्रक्रियाओं—जोड़, गुणा, घटाव व भाग का किया जाना इस प्रकार की प्रणालियों में कितना कठिन तथा असुविधाजनक होता होगा यह एक उदाहरण देकर हम स्पष्ट कर सकते हैं—

यदि चवालीस को एक सौ छियत्तर से गुणा करना है तो रोमन प्रणाली द्वारा यह प्रक्रिया निम्न प्रकार से होगी—

XLIV × CLXXVI

XL × C	=	M M M M	
XL × L	=	M M	
XL × X	=	C C C C	
XL × X	=	C C C C	
XL × V	=	C C	
XL × I	=	X L	
IV × C	=	C C C C	
IV × L	=	C C	
IV × X	=	X L	
IV × X	=	X L	
IV × V	=	X X	
IV × I	=	IV	

= M M M M M M C C C C C C C C
= C C C C C C C C XL,XL,XL XX IV
= M M M M M M M D C C X L IV

इसी प्रकार अन्य लिपि पद्धतियां भी विभिन्न प्रक्रियाओं के लिए अधिक उपयुक्त नहीं थी और अन्य प्रणालियों में हिसाब किताब एवं गणना कार्य अत्यन्त कठिन तथा असुविधाजनक था। संख्यालिपि पद्धतियों के इतिहास एवं विकास से एक बात और स्पष्ट होती है कि प्रायः

लिखने का आधार दस, बीस या साठ आदि था।

सख्या लिपि प्रणालियो के विकास की प्रक्रिया सदियो तक चलती रही, खोज कार्य होता रहा और अन्तिम अवस्था मे अको की खोज हुई और सख्याओ को अको द्वारा प्रदर्शित किया जाने लगा। इस कार्य के लिये प्रारम्भ मे नौ अंको का प्रयोग किया जाने लगा। पश्चिम मे विभिन्न अक 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9 थे जो एक से नौ तक की सख्याओ को प्रदर्शित करते थे। हिन्दु प्रणाली मे विभिन्न अक थे- १,२,३,४,५,६,७,८ और ६। इसके साथ ही स्थानमूलक प्रणाली की भी खोज हुई जिसका आधार दस था और यही स्थानमूलक प्रणाली आज भी विश्व के विभिन्न देशों मे प्रचलित है। इस प्रणाली मे दॉयी ओर से बॉयी ओर चलते हुये प्रथम स्थान इकाई का द्वितीय स्थान दहाई का, तीसरा स्थान सैकड़े का, चौथा स्थान हजार का पाचवा स्थान दस हजार का, छठा स्थान लाख का आदि और इस प्रकार विभिन्न स्थानो का मान अपने से पहले स्थान के मान का दस गुणा करने से प्राप्त हो जाता है।

स्थानमूलक प्रणाली द्वारा सख्याओ को लिखने की प्रथा के दौरान एक समय था, जब यदि तीन सौ दो लिखना होता था तो ३ २ अथवा ३, २ लिखा जाता था। इसमे दो अकों के बीच थोड़ी जगह खाली रखी जाती थी जिसका तात्पर्य था कि इस स्थान पर किसी अंक का प्रयोग नही किया जाना है किन्तु इस प्रकार सख्याओं को लिखना एवं समझना तथा उनके साथ विभिन्न प्रक्रियाये करना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। इस-प्रकार लिखे गये तीन सौ दो को तीन हजार बीस भी पढा जा सकता है। विकल्प रूप में जहा कोई अक नही लिखा जाना होता था वहां अर्ध विराम लगाया जाने का भी प्रचलन हुआ परन्तु इसमे भी एक कठिनाई आई कि अंको को अलग-अलग भी तो समझा जा सकता था जैसे तीन सौ दो को तीन और दो। इस प्रकार जहा कोई अक नही लिखा जाना है, वहा क्या लिखा जाये यह समस्या गणितज्ञो के सामने रही। खोज कार्य चलता रहा, विभिन्न विकल्प सोचे जाते रहे, परन्तु इस समस्या का समाधान हिन्दु गणितज्ञो की आश्चर्य-जनक खोज 'शून्य' ने किया। 'शून्य' का अर्थ सस्कृत मे है— 'ख' अर्थात् 'आकाश' अथवा जो कुछ भी नही है— खालीपन। कहा गया है— 'यदच्छा विन्यासे शून्य' अर्थात् अनजान एव अज्ञात अक के स्थान पर 'शून्य' का प्रयोग किया जाता है। 'शून्य' शब्द का प्रयोग, 'यावद् तावद्' अर्थात् 'जो है वही' के अर्थ में होता है।

हिन्दु गणितज्ञो के आश्चर्यजनक आविष्कार 'शून्य' ने सख्या लिपि प्रणाली की एक बहुत बड़ी बाधा को दूर कर दिया। इस प्रकार से एक सौ नौ के लिये अलग-अलग अंक तथा शून्य- इन दस

अंकों की सहायता से प्रत्येक संख्या-छोटी-बड़ी लिखी जा सकती है। 'शून्य' के आविष्कार ने विभिन्न प्रक्रियाओं को अत्यन्त सरल बना दिया- शून्य' का यह अंक बहुत अजीब और खतरनाक है। जोड़ने की प्रक्रिया मे यह अंक किसी भी संख्या को प्रभावित एवं परिवर्तित नहीं करता और उसी प्रकार घटाने की प्रक्रिया में भी संख्या अपरिवर्तित रहती है। गुणा की प्रक्रिया मे तो यह प्रत्येक संख्या को अपने मे ही समा लेता है अर्थात् किसी संख्या को शून्य से गुणा करने पर शून्य ही प्राप्त होता है। भाग की प्रक्रिया मे तो यह और भी भयानक हो उठता है। यदि किसी संख्या मे शून्य को भाग दिया जाये तो परिणाम शून्य होता है परन्तु यदि किसी संख्या को शून्य मे भाग दिया जाये तो एक ऐसी असीम संख्या प्राप्त होती है जिसे INFINITY कहते है।

हिन्दु गणित मे शून्य के प्रयोग के उदाहरण नवी शताब्दी मे मिलते है। महावीर और भास्कर के गणित मे शून्य तथा भास्कर से पहले श्रीधर ने शून्य का वर्णन किया है। भारत मे शून्य की जो आकृति अपनाई गई वही संसार के अधिकांश देशो मे प्रचलित हुई। अरब वालों ने शून्य को नाम दिया 'सिफर' और सम्भवतः इसी से अंग्रेजी शब्द 'साईफर' बना और अंग्रेजी मे प्रयुक्त 'जीरो' शब्द की उत्पत्ति हुई, लातीनी शब्द 'जेफिरम' से।

शून्य के आविष्कार के अतिरिक्त हिन्दु गणितज्ञो को 'दशमलव प्रणाली' के आविष्कार का भी श्रेय है। जिस प्रकार 'दस' को आधार मान स्थानमूलक प्रणाली द्वारा १, २, ३, ४, ५, ६, ७; ८, ९ और ०, इस दस अंको के प्रयोग से स्थान बदलकर कोई भी एक से बड़ी संख्या लिखी जा सकती है। उसी प्रकार दशमलव प्रणाली द्वारा दशमलव बिन्दु लगाकर एक से छोटी प्रत्येक संख्या लिखी जा सकती है। दशमलव बिन्दु के बाद बाये से दाई ओर जाते हुये प्रथम अंक एक का दसवा भाग, द्वितीय अंक सौवा भाग, तीसरा अंक हजारवा भाग आदि प्रदर्शित करता है। हिन्दु ग्रन्थो से पता चलता है कि आर्य भट्ट को इस प्रणाली का ज्ञान था। बारहवी शताब्दी के भास्कराचार्य ने अपने ग्रंथ 'लीलावती' मे इस प्रणाली का वर्णन एवं विवेचन किया है।

भारत मे 'शून्य' तथा 'दशमलव प्रणाली' के आविष्कार होने पर उस युग के कुछ सभ्य देशो अरब, बेबीलोन, मिश्र, मय आदि ने इन्हे अपनाया और वहां से होता हुआ इनका ज्ञान विभिन्न पश्चिमी देशो मे पहुंचा।

भले ही आज के पश्चिम के देशो के गणितज्ञ एवं विद्वान शून्य के आविष्कार का श्रेय हिन्दु गणितज्ञो को देने से कतराते है परन्तु अधिकांश प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते है कि हिन्दु गणितज्ञो की महान् उपलब्धि है- 'शून्य' और 'दशमलव प्रणाली' जिसके लिये समस्त विश्व उनका ऋणी है।

* * *

भारत का प्रथम भूस्थाविक उपग्रह-एपल (एरियान एक्सपेरिमेन्ट)

—हरिश्चन्द्र ग्रोवर

अन्तरिक्ष टेक्नालाजी के क्षेत्र मे भारतीय वैज्ञानिक विश्व में किसी से भी कम नहीं है। इस का प्रमाण उन की नवोनतम प्राप्ति एपल है जो १९जून१९८१ को ६बज कर २मि. परफैक्ट मिनो के कारुन से एरियान राकेट द्वारा अन्तरिक्ष मे प्रक्षेपित किया गया। इस उपग्रह का उपयोग टेलीप्रसारण के लिए किया जाना है। इस के द्वारा किसानों के लिए मौसम झंझावात आदि पर उपयोगी सूचना भी प्राप्त हो सकेगी।

अन्तरिक्ष आयोग के अध्यक्ष डा० सतीश धवन, उपग्रह केन्द्र बंगलूर के निर्देशक डा० यू० आर० राव तथा एपल परियोजना के निर्देशक डा० आर० एम० वसागम के अनुसार यह उपग्रह (अंतरिक्ष मे अनुसधान के लिए भेजी जाने वाली मशीन) प्रायोगिक है लेकिन यह एक व्यवहारिक संचार उपग्रह जैसा काम करेगा। एरियन परियोजना का लक्ष्य है कि कक्षा में टेलीसंचार उपग्रह स्थापित किया जाये। इस उपग्रह को सहायता से भारत उपग्रह पर आधारित भविष्य के संचार कार्यक्रमों का निर्धारण करेगा।

आर्यभट्ट, भास्कर रोहिणी इन नामों की संसार में बडी चर्चा हुई। यह भारत के द्वारा अन्तरिक्ष में विभिन्न उपयोगों के लिए भेजे गये उपग्रहों के नाम हैं। ऐपल भारत का पहला भू-सकालिक उपग्रह है। इस का उपयोग टेलीप्रसारण के लिए किया जाना है। यह आर्यभट्ट, रोहिणी और भास्कर की तुलना में अधिक परिष्कृत है। इसे भारतीय अन्तरिक्ष अनुसधान सगठन ने साढे तीन वर्ष में१७करोड रु०की लागत से बनाया

एरियन शृखला का यह तीसरा राकेट छोडा गया और अभी एक परीक्षण राकेट छोडा जाना शेष है। दिसम्बर १९७९ में पहला एरियान राकेट सफलतापूर्वक छोडा गया। दूसरा १९८० में फेंका गया परन्तु इसमें सफलता नहीं मिली। और प्रक्षेपण के दो मिनट बाद ही यह अन्ध महासागर में गिर पड़ा।

यह उपग्रह १२० से०मी० लम्बा और उतना ही चौड़ा है। इसका वजन ६७० कि.ग्राम फेंके जाने के समय था। कक्षा मे घूमने के समय इसका वजन ३८० किलो हो जायेगा। एपल मे इतना ईंधन रखा गया है कि वह दो वर्ष तक इसको चालू रखने के लिए काफी होगा।

भारत का प्रथम भूस्थाविक उपग्रह एपल १९ जून १९८१ को सायं ६ बजकर २ मिनट पर फेंच गिनी के कारुन से एरियान नामक राकेट द्वारा कक्षा में फेंका गया। इस राकेट का निर्माण योरोपीय अन्तरिक्ष ऐजेंसी द्वारा किया गया। बिजली प्रणाली मे खराबी दूर करने के लिए प्रेक्षण ४२ मिनट देर से किया गया। एरियान द्वारा इसके अलावा मेटोसेट उपग्रह व केट नामक प्रोद्योगिक कैपस्यूल भी फेंके गये।

राकेट का पहला चरण ६ बजकर २मिमट पर चला दूसरा चरण। तीन मिनट बाद अलग हुआ। साय ६ बजकर १९ मिनट पर एपल कक्ष में स्थापित कर दिया गया। जिस समय यह राकेट धरती से उठा तो लाली लिए धुंए के बादल इसे घेरे हुए थे।

कुछ दिन पूर्व तक उपग्रह छोड़ने की क्षमता केवल रुस, अमेरिका, फ्रास तथा जापान रखते थे अब भारत इस तरह की क्षमता रखने वाला विश्व का पाचवा देश बन गया है। एपल योजना की अभूतपूव सफलता मे सबसे उल्लेखनीय बात यह रही कि इस का एक सोलर पैनल नखुल सकने के बावजूद भी उपग्रह को अतरिक्ष में पृथ्वी से ३६ हजार किलोमीटर ऊपर निर्धारित स्थान पर रखा जा सका। एपल उपग्रह से २० दिनो के अन्दर सचार प्रयोग शुरु किये गये तो वह सफल रहे। इस दौरान टेलीफोन, दूरदर्शन-प्रसारण आदि प्रयोग किये जा रहे हैं। अगले वर्ष 'इनसाट' उपग्रह छोड़ा जाना है जिसकी सेवा स्थाई रुप से ली जायेगी।

* *

चाय पैदा करने वाले देशों में भारत का स्थान प्रथम है। संसार में जितनी चाय पैदा होती है, उसकी लगभग आधी मात्रा हमारा देश पैदा करता है।

अन्तरिक्ष में पिकनिक का आनन्द लीजिए

प्रो० विजयेन्द्र कुमार

मनुष्य को सदैव से ही सुन्दर और सुलभ पिकनिक स्थलों की तलाश रही है। शीतल चन्द्रमा की छटा निकट से निहारने को आपकी चाह रही होगी। सुन्दर स्वच्छ आसमान में क्या चमकता है इसको आपको जिज्ञासा होगी। हमारी पृथ्वी दूर से कैसी दिखाई देती है ये आप जानना चाहते होंगे। लेकिन यह सब अब तक दुर्लभ था। अब ये सुलभ हो गया है। अब आप जब चाहें ये सब आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। आपको आपके पिकनिक स्थल तक पहुंचाने के लिए प्रस्तुत है—स्पेस शटल 'कोलम्बिया''। बस केवल अपना मन बनाइये और गाड़ी में बैठ जाइये।

यह सर्वविदित है कि अन्तरिक्ष अनुसंधान के कार्य मे धन बहुत लगता है। इसका मुख्य कारण यह है कि अन्तरिक्ष मे उपग्रह आदि को प्रक्षिप्त करने वाले राकेट, जिनके निर्माण मे बहुत धन लगा होता है प्रक्षेपण के पश्चात् नष्ट हो जाते है। यात्रा के प्रारम्भ मे प्राय: अनेक राकेट, उपग्रह, एव अन्य भारी सामान प्रक्षिप्त किये जाते हैं। लेकिन उसमे मुख्य अग छोटा सा भाग होता है। इसी को सारा प्रयोग आदि का कार्य सम्पन्न करना होता है। कभी कभी अतरिक्ष यात्री भी इसी भाग में होता है। केवल यह भाग सुरक्षित लौटता है एक कैंपसूल के रूप में। इस तरह ऐसा यान बनाने की आवश्यकता अनुभव की गयी जिसे जब चाहे अन्तरिक्ष मे भेजा जा सके और जो अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् सकुशल लौट आये।

इस दिशा मे अमेरिकी वैज्ञानिक सफल हुए। अमेरिका ने 'कोलम्बिया' स्पेस-शटल बनायी। यह उपरोक्त यान की अपेक्षाओ को पूरा करती है। इस स्पेस शटल 'कोलम्बिया' का प्रथम परीक्षण १२ अप्रैल १९८१ को किया गया। इस प्रयोग में लगभग दस अरब डालर खर्च हुए एवं इसके निर्माण मे लगभग दस वर्ष लगे।

स्पेस शटल के तीन भाग हैं। पहला मुख्य भाग जो यान के आकार का होत। है, जिस में

यात्री बैठते हैं तथा महत्वपूर्ण प्रयोग करने के उपकरण लगे रहते हैं। यही भाग अन्त तक यात्रा करता है। दूसरा भाग होता है दो समान आकार के ठोस इंधन वाले प्रकोष्ठ तथा तीसरा भाग तरल इंधन केलिए एक बड़ी विशाल टंकी के रूप मे। इसमें लगभग ८०० टन तरल हाइड्रोजन तथा आक्सीजन रक्खी जा सकती है। इससे मुख्य भाग के इंजनों को शक्ति मिलती है।

प्रक्षेपण के समय सर्वप्रथम मुख्य यान के दो इंजन शुरू किये जाते है। फिर दूसरा भाग पूरे सिस्टम को ऊपर उठाकर निर्धारित ऊंचाई पर अलग होकर सागर मे गिराया जाता है। वहाँ से उसे खोज कर अगली यात्राओं के लिए सुरक्षित कर लेते है। इसके बाद मुख्य यान तथा तरल इंधन की टंकी अन्तरिक्ष में तीव्र गति से उड़ते है (लगभग २८००० कि.मी. प्रति घंटा)। पूरा इंधन खर्च होने के बाद यह तरल इंधन की टंकी भी अलग होकर नष्ट हो जाती है। केवल मुख्य यान लगभग २०० कि मी. ऊंची कक्षा में चक्कर लगाने लगता है। इसको वापसी की यात्रा मे कोई शक्ति व्यय नहीं होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण धन का अल्पांश ही नष्ट (केवल एक बार प्रयोग) होता है। इस बने हुए साज सामान के कम से कम सौ बार प्रयोग किये जाने की सम्भावना है। शटल की वापसी की यात्रा में दो यन्त्र हवा के प्रतिरोध का उपयोग करके शटल के लिए ब्रेको का कार्य करेंगे। इस प्रकार यह तीव्र गति से वायुमण्डल मे प्रवेश करेगी। विशेष सिलिका आवरण के कारण घर्षण के कारण उत्पन्न गर्मी से यह प्रभावित नही होती, हवाई पट्टी की व्यवस्था है उस समय गति अति साधारण लगभग ४०० कि. मी. प्रति घन्टा होगी। इस प्रकार यह सामान्य वायुयान की तरह नीचे उतरती है। राकेट और इंधन टंकी से जोड कर यह पुन. यात्रा के लिए तैयार हो जाती है। कोलम्बिया की दूसरी उडान सितम्बर मे होनी है। पहली उडान १२ अप्रैल १९८१ को हुई थी। यह उडान ५४ घन्टे २० मिनट तक चली। इस उड़ान के दौरान मुख्य यान ने पृथ्वी के ३६ चक्कर लगाये। सब प्रयोग सफल हुए।

स्पेस-शटल की सहायता से कृत्रिम उपग्रह अन्तरिक्ष में बहुत कम खर्चे मे स्थापित किए जा सकेंगे। इस प्रकार धन का ३० से ५० प्रतिशत की बचत होगी। इसके लिए शटल मे रखे कृत्रिम उपग्रह को छोटी क्रेन (यान्त्रिक भुजा) की मदद से उठाकर शटल से काफी दूर छोड़ देंगे। उपग्रह के अपने छोटे राकेटो को प्रयोग करके उसकी कक्षा निर्धारित की जा सकती है। इसी प्रकार शटल का उपयोग किसी अपने कक्ष में घूमते हुए खराब उपग्रह को पृथ्वी पर सुधार के लिये लाने मे भी किया जा सकेगा। अथवा यदि थोड़ी मरम्मत के बाद ठीक हो सकता हो तो मैकेनिक शटल

यात्री वहीं पर अन्तरिक्ष सूट पहन कर काम करते हुए उसकी मरम्मत कर सकते हैं।

खगोलीय अनुसन्धान मे शटल से बडी मदद मिलेगी। अभी तक पृथ्वी पर स्थापित दूरबीनें अधिक दूर तक नही देख पाती। धुन्ध, कोहरा आदि भी इस में यदा-कदा बाधक होते है। अब लगभग १० टन भारी एक दूरबीन को अन्तरिक्ष मे स्थापित करने की योजना है। इस दूरबीन की मदद से अब तक की अपेक्षा सातगुनी दूरी तक के रहस्यो की जानकारी हो सकेगी।

वैज्ञानिकों को शटल के बहुत-बहुत प्रयोग सूझ रहे है। अन्तरिक्ष बस्तिया तथा अन्तरिक्ष औद्योगिक नगरी बसाने की बात सोची जा रही है। अन्तरिक्ष स्टेशनो की स्थापना से विश्व की सचार व्यवस्था मे तो क्रान्ति ही आ जायेगी। जिस प्रकार भारत द्वारा प्रक्षिप्त कृत्रिम उपग्रह 'एपल' की सहायता से भारत मे सचार त्वरित तथा विस्तृत हो गया है, ठीक उसी प्रकार अन्तरिक्ष स्टेशनों की स्थापना के बाद पूरे विश्व मे सचार सम्भव हो सकेगा।

शटल के सैन्य उपयोग बड़े चिन्ताजनक हैं। शत्रु देश के उपग्रह को निष्क्रिय किया जा सकता है। अन्तरिक्ष में घूमने वाले केन्द्र बनाकर उन से लेसर पुञ्ज या मारक उपग्रह अपने दुश्मन देशो पर छोड कर विनाश किया जा सकता है।

शटल की मदद से बहुत से देशों की अनुसधान करने की योजना है। भारत की सन् १९८५ मे एक सचार उपग्रह को शटल से स्थापित करने की योजना है। कहा जाता है कि शटल अगले पांच वर्षों से अधिक समय तक पूरी तरह व्यस्त है।



दुनियां में पदार्पण करते ही बच्चे को जो चीज सब से पहले तंग करती है, वह भूख है।

महाभारत कालीन दिव्यास्त्र

महावीर 'नीर' विद्यालंकार

भारत के ३४वे स्वतन्त्रता-दिवस को पुनीत वेला में प्रधानमंत्री श्री मती इन्दिरा गांधी ने विश्व मे महा प्रलयंकारी विस्फोटक पदार्थों के निर्माण एवं संग्रह की ओर इंगित कर, अमरीका द्वारा 'न्यूट्रोन' बम बनाने की घोषणा की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया है। आज विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचने को उत्सुक है। यह (पदार्थ-विद्या) विज्ञान संहारक शक्ति का उत्पादन भी कर रहा है और मनुष्य की सुख-सुविधा के अनेक साधन जुटाने मे भी लगा है।

इतना होने पर भी आज विश्व मौत के कगार पर खड़ा है। मानव आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों की विभीषिका से त्रस्त है। हिरोशिमा और नागासाकी के भयंकर ध्वंस का स्मरण कर यकायक रोंगटे खड़े हो जाते है। आज बटन दबाते ही भयंकर विस्फोटक पदार्थों से लैस राकेट यान, विमान शत्रु पक्ष का महाविनाश करने मे सक्षम है। विद्वानो का मत है कि इन विस्फोटक पदार्थों से समस्त संसार को तीन बार ध्वस्त किया जा सकता है। वस्तुतः युद्धो की डरावनी-काली-क्रूर छाया किसी के लिए भी कल्याणकारिणी नहीं हुआ करती। विनाश के पश्चात् पश्चात्ताप की ज्वालाओं से मन का सुकोमल तन्तु जला करता है।

आज से हजारो वर्ष पूर्व भी 'महाभारत' के संग्राम की अन्तिम परिणति पश्चात्ताप में ही हुई थी। विनाशकारी युद्धो का परिणाम ऐसा ही होता है। महाभारतीय इतिहास वास्तव मे गृह कलह से उत्पन्न युद्ध का इतिहास है। कौरवो और पाण्डवों के इस भयानक युद्ध मे उनके अनेक सम्बन्धियो और उनसे स्नेह व शत्रुता रखने वाले अनेक देशो के राजाओ ने साथ दिया। यह युद्ध १८ दिन मे १८ अक्षौहिणी (११ कौरवो ७ पाण्डवो की) सेनाओ के संहार के साथ समाप्त हुआ। केवल भरत खण्ड के दो वीर ऐसे थे, (राजा रुक्मी और बलराम 'हलधर') जो इस युद्ध मे अलग रहे।

साधारण प्रजाजनो का अनुचित संहार न हो, एतदर्थ कौरवो और पाण्डवों ने हस्तिनापुर से दूर कुरुक्षेत्र की भूमि मे पश्चिमाभिमुख और पूर्वाभिमुख होकर जब युद्ध की इच्छा से डेरे डाल

दिए तब दोनों ही ओर के राज्य-प्रत्याशियों ने अपनी-अपनी वीर मण्डली के चुने हुए योद्धाओं से युद्ध-प्रसंग में सभाएं कीं। महाभारत के उद्योग पर्व में वर्णित यह प्रसंग इतना सटीक, इतना सुन्दर तथा उस समय के वीरों के चरित्र तथा वैज्ञानिक उन्नति का इतना साकार चित्र प्रस्तुत करता है कि पढ़ते ही बनता है।

कौरव पक्ष की रात्रीकालीन सभा—

अपने-अपने स्थानों पर विराजमान भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कर्ण से महाराज दुर्योधन ने सामयिक एवं सामरिक प्रश्न करते हुए कहा कि आप सभी महान् पराक्रमी हैं। दिव्यास्त्रों के ज्ञाता हैं। युद्ध विद्या में निष्णात हैं—"मैं आपसे यह जानना चाहता हूं कि आप कितने-कितने समय में पाण्डव-पक्ष को युद्ध में परास्त कर सकते हैं"—तब सबसे पूर्व वयोवृद्ध भीष्म पितामह अपने बल एवं शस्त्रास्त्र ज्ञान के आधार पर बोले कि मैं १ मास में पाण्डव पक्ष को परास्त कर सकता हूं। तदनन्तर द्रोणाचार्य बोले कि मैं भी अपने बल एवं शस्त्रास्त्र ज्ञान के आधार पर दो मास में पाण्डव वीरों को परास्त कर सकता हूं। कृपाचार्य बोले—राजन्! मैं भी दो ही माहों में यह कार्य कर सकता हूं। सुयोधन ने युद्धवीर अश्वत्थामा से पूछा। "द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने अपने बल एवं युद्ध ज्ञान के अनुसार १५ दिन में पाण्डव पक्ष को मार गिराने की बात कही। अन्त में दिव्यास्त्रवेत्ता कर्ण ने कहा मैं पांच दिन में पाण्डवों सहित समस्त शत्रु दल को यमालय भेज दूंगा।"

इस प्रकार कौरव वीरों के मध्य युद्ध प्रसंग में हुए इस विचार-विमर्श का पता जब महाराज युधिष्ठिर को हुआ तो चिन्तित होकर उन्होंने भी पाण्डव वीरों की सभा बुलाई।

पाण्डवपक्षीय वीर सभा—

अब पाण्डव-पक्ष की वीर-सभा को सम्बोधित करते हुए महाराज युधिष्ठिर ने समस्त वीरों के समक्ष कहा कि वीरवरों! कल युद्ध होने वाला है। बताइये आप लोग कितने समय में कौरव दल का संहार कर सकते हैं। क्योंकि दिव्यास्त्रवेत्ता कर्ण का कहना है कि वह ५ दिन में भूमि को पाण्डव रहित कर देगा। युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर पाण्डव वीर सभा स्तब्ध रह गयी। सब वीर एक दूसरे का मुंह ताकने लगे।

तब युधिष्ठिर को चिंतित व आतुर देखकर चारों ओर दृष्टिपात कर कुन्तीपुत्र अर्जुन खड़े हुए और इस प्रकार बोले—राजन्! यदि आप मुझे विशेष आज्ञा दें तो मैं एक क्षण में समस्त भूमण्डल समेत इन वीरों को नष्ट कर सकता हूं। यह मैं क्यों कर सकता हूं इस तथ्य का ज्ञान न तो पितामह भीष्म को है, न गुरु द्रोणाचार्य को

और न ही कृपाचार्य को। फिर अश्वत्थामा और कर्ण को तो इस बात का पता कहां से होगा? राजन्! मेरे पास महाविनाशकारी पाशुपतास्त्र है। इसके प्रयोग से सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट किया जा सकता है, किन्तु युद्ध विधान के अनुसार विपक्षी जिस प्रकार के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करता है उसी प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग करना मुझे अभीष्ट है। अत जैसा शत्रु-पक्ष युद्ध करेगा उसी के अनुसार लड़ाई होगी। यथा— अर्जुन युधिष्ठिर से कहते हैं—

अपैतु ते मनस्तापः तथा सत्यं ब्रवीम्यहम्।
हन्यामेकरथेनैव वासुदेव सहायवान्॥
उद्योगपर्व अ.१९४।श्लो ११ से

सामरानपि लोकांस्त्रीन् सर्वान् स्थावरजङ्गमान्।
भूत भव्य भविष्य च निमेषादिति मे मति. ।१२।

यत् तद् घोरं पशुपतिः प्रादादस्त्रं महन्मम।
कैराते द्वन्द्वयुद्धे तु तदिदं मयि वर्तते॥

तन्न जानाति गाङ्गेयो न द्रोणो न च गौतम।
न च द्रोणसुतो राजन् कुत एव तु सूतजः ॥१४॥

न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग् जनम्।
आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान् ॥१५॥

इस प्रसंग को यहां उद्धृत करने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि महाभारत काल में विज्ञान की महती उन्नति हो चुकी थी। सुख-सुविधाओं के लिए विज्ञान ने जहाँ अनेक साधन जुटाए थे वहाँ आधुनिक 'एटमबम' के समान उस समय महान् विनाशकारी 'पाशुपतास्त्र' एवं 'नारायणास्त्र' का निर्माण हो चुका था। ये अस्त्र शत्रु सेनाओं को ही नहीं अपितु दूर-दूर तक के प्रदेशों को भी तबाह करने मे सक्षम थे। इन्हीं अस्त्रों को उस समय 'दिव्यास्त्र' कहा जाता था। क्योंकि साधारण शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा इनकी संहारक शक्ति विलक्षण थी दिव्य थी। आज के 'एटम' आदि भी कोई साधारण अस्त्र नहीं हैं अपितु विलक्षण है, दिव्य है।

इन दिव्य अस्त्रों की प्रयोगविधि भी अनोखी होती थी। महाभारत काल में इन दिव्यास्त्रों के जानने वाले को अप्रतिमवीर कहा जाता था। इन अस्त्रों की प्राप्ति भी कोई साधारण बात नहीं थी अपितु जिस प्रकार आज के वैज्ञानिक दिन-रात इसके लिए तपस्या करते है, दूसरे देशों मे जाकर 'टैकनीक' सीखते है वैसे ही उस भूतकाल में जिज्ञासु ब्रह्म लोक, शिव लोक, इन्द्र लोक, पाताल लोक आदि (भूलोक) स्थानों मे जाकर इन का ज्ञान प्राप्त करते थे। महाभारत में आगामी युद्ध की आशंका कर वन पर्व मे युधिष्ठिर अर्जुन व भीम को अस्त्र विद्या प्राप्ति के लिए उत्तरी एवं दक्षिणी प्रदेशों मे भेजते हैं। महाभारत मे दिव्यास्त्रों के विषय में निम्न श्लोक देखिए—

आग्नेयं वारुणं सौम्य वायव्यमथ वैष्णवम् ।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्म पारमेष्ठ्य प्रजापते- ।।
धातुस्त्वष्टुश्च सवितुर्वैवस्वतमथापि वा ।।
१२।१४०.४१ भीष्मपर्व ।

अर्थात् आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म, पारमेष्ठ्य, प्राजा-पत्य, धात्र त्वाष्ट्र, सावित्र और वैवस्वत-ये दिव्यास्त्र कहे गये है । इसी प्रकार एक दूसरे की काट करने वाले अस्त्रो का प्रयोग भी उस समय होता था । श्री मद्भागवत् पुराण मे उनका इस प्रकार वर्णन है—

ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्र वायव्यस्य च पार्वतम् ।
आग्नेयस्य च पार्जन्य नैज पाशुपतस्य च ।।
मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम् ।।
भागवत् स्क १०।अ.६३।श्लो१३–१४।।

अर्थात् ब्रह्मास्त्र की काट ब्रह्मास्त्र । आग्नेयास्त्र की काट पर्जन्यास्त्र । वायव्यास्त्र की काट पार्वतास्त्र । पाशुपतास्त्र की काट नारायणास्त्र । इसके अतिरिक्त तिमिरास्त्र की काट भास्करास्त्र तथा मोहनास्त्र की काट प्रज्ञास्त्र थे ।

उस समय श्री कृष्ण व अर्जुन ही ऐसे वीर थे जो इन अस्त्रो के जानकार थे । आज भी जिन राष्ट्रो के पास विनाशकारी, प्रलयकारी बम विद्यमान है । वे उनका प्रयोग करने मे महान् अनिष्ट की आशका से उतावली नही करते । इस-लिए जब भी किन्ही दो देशों में युद्ध होता है तो वे इन भयकर (दिव्यास्त्रो) का प्रयोग न कर आग्नेयास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, मोहनास्त्र आदि के रूप में हल्के बमों का प्रयोग ही करते है ।

इस सन्दर्भ मे महाभारत मे एक प्रसग आता है—द्रोणाचार्य जब युद्ध मे पाण्डव वीरो से तग आ गये तो उन्होने महाविनाशकारी शक्तिशाली अस्त्र उठाकर उसका प्रयोग करना चाहा । उस अस्त्र के प्रयोग से भयकर विनाश होने की आशका थी । तभी वहाँ युद्ध-नियमो का उलघन करने के कारण द्रोण के विरोध मे कुछ वीरो ने कोलाहल मचा दिया । ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रिय धर्म मे लगे एव भयकर अस्त्र का प्रयोग करने को उद्यत द्रोण का बडी भर्त्सना की । उन्हे लज्जित किया तब द्रोण शस्त्रास्त्रो को छोड रथ मे बैठ गए । क्योकि युद्ध मे साधारणजनों को दिव्यास्त्रो से मारना कदापि उचित नही समझा जाता था । यथा– 'न तु युक्त रणे हन्तु दिव्यैरस्त्रै पृथग् जनम् ।"

शास्त्रास्त्रो के सम्बन्ध मे महाभारत मे व 'भागवत्' मे बहुत कुछ आया है । विद्वान् यदि खोज करे तो बडे-बड़े तथ्य हाथ लग सकते हैं । सब जानते है कि आग जलाने वाली गैस आक्सी-जन और बुझाने वाली गैस नाइट्रोजन होती है । हाइड्रोजन + आक्सीजन के सयोग से जल बनता

है। उस समय के (पदार्थ विद्या) विज्ञान के विज्ञ इन तथ्यों से परिचित थे। तभी वे ऐसे अस्त्रों का निर्माण कर सके। आज भी कारखानों में आग बुझाने वाली गैस के सिलिण्डर लटके मिलेंगे। योगिराज श्री कृष्ण चन्द्र के 'चक्र-सुदर्शन' अस्त्र को भी वैज्ञानिक दृष्टि से परख तो तथ्य प्राप्त हो सकता है। वृत (घेरे या चक्र) की विलक्षणता यह है कि वह तीव्र गति से घूम कर वापिस आ जाता है। यदि सर्कस में आपने किसी व्यक्ति को 'गोल टोप' अथवा 'रस्सा' घुमाते हुए देखा होगा तो अभिप्राय समझ में आ सकता है। कोई भी विद्या हो, वह अभ्यास से ही फलवती या सिद्ध होती है। आखों के अभ्यास में भी यह गुर है।

बलराम जी को 'हलधर' कहा जाता है। यह उन्हें जानने का एक इंगित या प्रतीक है। वस्तुत: बलराम 'डायनामाइट' विद्या के पारखी थे। आज भी सेना में इस विद्या के जानकारों की टुकड़ी अलग होती है। जो युद्ध क्षेत्र में या शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए धरती में विस्फोटक पदार्थ रखकर किसी स्थान को उडाने या समतल करने में सहयोग करती है। श्री मद् भागवत् में आता है कि जब बलराम जी कौरवों से कुपित होकर अपने 'हल' की नोक से खनन कर विस्फोटक पदार्थ रख कर खींचने लगे (विस्फोट) करने लगे तो हस्तिनापुर नगरी ऐसे डोल उठी जैसे नाव जल में डोल उठती है। विस्फोट से धरतीमें कम्पन साधारण सी बात है। श्लोक पढ़िये, गुनिए व संगति परक अर्थ लगाइये—

अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः ।
गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम् ॥
स्क १०।अ ६८। श्लो४०

लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् ।
विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥
स्क. १०।अ.६८।४१

जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।
आकृष्यमाणमालोक्य कौरवाः जातसम्भ्रमाः ॥
स्क. १०।अ.६८।४२

इस प्रकार हमारी प्राचीन (पदार्थविद्या) विज्ञान अनेक ग्रन्थों में बिखरा पड़ा है। ज्यों-ज्यों आधुनिक विज्ञान हमारे सामने कोई आविष्कार करता है तो हमारी दृष्टि इन खण्डों पर भी अनायास पड जाती है। वस्तुत: यदि हम इन बातों को प्राचीन गपोडे न मानकर आधुनिक विज्ञान के बढते हुए प्रभाव क्षेत्र में समझने की कोशिश करें तथा संगतिपरक अर्थ लगायें तो कुछ प्राप्ति हो सकती है।

संस्कृत साहित्य में उत्तररामचरित नाम का महाकवि भवभूति का नाटक है। उसमें 'लव' द्वारा 'जृम्भकास्त्र' का प्रयोग मिलता है। इस अस्त्र के प्रभाव से समस्त सेना स्थिर हो जम्भाई लेने लग जाती थी। महाभारत में और भागवत् में इसे 'जृम्भणास्त्र' कहा है। विराट पर्व में जब उत्तर

ने कौरव सेना के विविध रंग-बिरगे वस्त्र प्राप्त करने की बात कही तब अर्जुन ने 'मोहनास्त्र' का प्रयोग कर सबको अचेत कर डाला। उत्तर ने रंग-बिरगे वस्त्र उतार लिए। परन्तु अचेत करके शत्रु को कत्ल करने का विधान युद्ध मे नहीं था।

इस प्रकार दिव्यास्त्रों की चर्चा के पश्चात् महाभारत मे रथों या वाहनों की दिव्यता व विलक्षणता का वर्णन भी मिलता है। पाण्डवो के शस्त्रास्त्रो तथा रथों आदि की उत्कृष्टता की बात सुनकर दुर्योधन भी कहता है कि मेरे यहा ऐसे वैज्ञानिक हैं जो जल, वायु और पृथ्वी तीनों पर रथो का समान रूप से स्तम्भन कर सकते हैं। यथा—

स्तम्भितास्वप्सु गच्छन्ति मया रथ पदातयः।
देवासुराणां भावानामहमेकः प्रवर्तिता ॥
उद्योगपर्व ६१।१४

अक्षौहिणीभिर्यान् देशान् यामि कार्येण केनचित्।
तत्रापवा मे प्रवर्तन्ते यत्र यत्राभिकामये ॥ १५ ॥

अर्जुन के विशाल एवं दिव्य रथ की चर्चा भी यहाँ करना अप्रासंगिक न होगा। आधुनिक युग मे हम शक्ति या पावर की तुलना करते हुए कहते हैं कि इसमे इतने (हार्स पावर) की शक्ति है। तो कुछ ऐसा ही यहां प्रतीत होता है। अर्जुन का रथ कोई साधारण रथ नहीं था, वह अन्य रथों से विशिष्ट था। वह जल, थल व नभ मार्ग में अप्रतिहत गति से आ जा सकता था। उसके ध्वज मे जो 'एरियल' लगा था वह बहुत बडा था। उसमें ऐसी दिव्यता थी कि उसे सारे युद्ध-क्षेत्र का ज्ञान रहता था। उसके इस रथ मे १०० अश्वो की शक्ति बराबर बनी रहती थी। विद्वान् वैज्ञानिक पढे और विचार करें। यथा—

'देवैर्हि सम्भृतो दिव्यो रथो गाण्डीव धन्वन-।
न स जेयो मनुष्येण मा स्म कृद्ध्व मनो युधि ॥
उद्यो पर्व ५७ अ। श्लो ६२

वस्तुत. हमारा अल्प बुद्धि के अनुसार ये दिव्य गुणयुक्त देव महान् वैज्ञानिक ही थे। इसी सन्दर्भ मे यहाँ तीन नाम आये है—विश्वकर्मा, त्वष्टा व प्रजापति। इन तीनो ने मिलकर अर्जुन के रथ को सजाया सवारा। ये तीन क्रमश शिल्पकार, इञ्जिनियर व विज्ञानवेत्ता समझे जा सकते है। विद्वान् विचारे। आगे अर्जुन के रथ व ध्वज आदि का विस्तृत वर्णन पढ़िए—

ध्वजे हि तस्मिन् रुपाणि,
चक्रस्तु देव मायया।
महाधनानि दिव्यानि,
महान्ति च लघूनि च ॥

सर्वा दिशो योजनमात्रमन्तर स
तिर्यगूर्ध्वं च रुरोध वै ध्वजः।

न लज्जतेऽसौ तरुभिः संवृतोऽपि,
तथा हि माया विहिता भौमनेन ॥

यथाग्निधूमो दिवमेति रुद्ध्वा,
वर्णान् बिभ्रत् तैजसाश्चित्ररूपान् ।
तथा ध्वजो विहितो भौमनेन न चेद्,
भारो भविता नोतरोषः ॥

श्वेतास्तस्मिन् वातवेगाः सदश्वा,
दिव्यायुक्ताश्चित्ररथेन दत्ताः ।
युव्यन्तरिक्षे दिवि वा नरेन्द्र,
येषां गतिर्हीयते नात्र सर्वा ॥

क्षतं यत् तत् पूर्यते नित्यकालं,
हृतं हृतं दत्तवर पुरस्तात् ॥

इस प्रकार उपरोक्त विशेषण के आधार पर महाभारतीय दिव्यास्त्रों एवं रथों के एक काल्पनिक स्वरूप को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कुछ साकार रूप दिया जा सकता है। विद्वान् वैज्ञानिक ही इस विषय में खोज एवं शोध कर सकते हैं।

* * *

'जीव सौंदर्य योजना' सड़कों और गलियों के नाम देने की समस्या को भी सरल कर देगी। गली का नाम उसकी सड़क के किनारे लगे हुए वृक्षों के नाम पर रखा जा सकता है, जैसे अमलतास-वीथि, गुलमोहर-वीथि, अशोक-वीथि आदि।

मछली से तेल

—वेदप्रकाश शास्त्री

सदियों पहले मनुष्य ने मछली के तेल की उपयोगिता को पहचाना। इन तेलों मे प्रमुख तेल था, 'काड लीवर तेल'। यह तेल मछलियों के यकृत से प्राप्त किया गया। इसके पश्चात् सन् १९१० में वैज्ञानिकों ने यह जाना कि इस मछली के तेल मे विटामिन ए तथा विटामिन डी भी सम्मिलित है। यह तेल कुछ प्रमुख मछलियों जैसे काड हैडोक, शार्क तथा रे मछलियो के यकृत की विभिन्न क्रियाओं द्वारा उपलब्ध होता है। मछलियो के तेल मे पाये जाने वाले मुख्य तत्त्व इस प्रकार है—चर्बी ५५% से ७५%, प्रोटीन ५ से ६% तथा पानी की मात्रा २० से ३६% तक। मछलियों के तेल को मुख्यतया दो विधियों से प्राप्त किया जा सकता है। लीवर आयल लीवर से तथा अन्य तेल सम्पूर्ण शरीर को विभिन्न क्रियाओं के फलस्वरूप प्राप्त किया जाता है। यह तेल अन्य खाद्य तेलों से कुछ भिन्न होता है क्योंकि इन तेलों मे प्रायः फैटीएसिड्स की मात्रा अधिक होती है। अच्छे प्रकार के मछली के तेल जो प्रायः खाद्य पदार्थों के उपयोग में लाये जाते हैं उन तेलों की दुर्गन्ध को तथा पानी की मात्रा को पहले दूर किया जाता है जो विभिन्न प्रकार की डीओ-डोरिजेशन (निर्गन्धीकरण) हाइड्रोजिनेशन विधियों से तैयार किया जाता है।

तेल निकालने की विधि—

लीवर ही मुख्य अंग है जिससे तेल प्रचुर मात्रा में निकाला जाता है, लेकिन कुछ मछलिया ऐसी भी है जिनके शरीर के अन्य अंगो से भी तेल प्राप्त किया जाता है जैसे हॉलीवट मछली।

लीवर तेल भी तीन प्रकार के होते है—

१. अधिक तेल तथा विटामिन की मात्रा कम

२. कम तेल की मात्रा तथा विटामिन की मात्रा अधिक (हॉलीवट तथा तुना)

३. अधिक तेल तथा अधिक विटामिन मात्रा (हैमर हैडेड शार्क तथा जायगिना)

विटामिनो का तेल में होना मछलियों के आकार, लिंगभेद, वातावरण, खाद्यसामग्री तथा आयु पर निर्भर करता है। तेल निकालने के लिये

मछलियों को नमक लगाया जाता है जिससे इनको सड़ने से बचाया जा सके। अधिक तेल व विटामिन वाली मछलियों को अलग कर लिया जाता है।

दूसरी विधि है 'साल्वेन्ट एक्सट्रेक्शन' इस विधि मे ताजा सम्पूर्ण मछलियो को काट कर सोडियम सल्फेट से मिलाकर सुखाया जाता है। फिर इनको इथाइलीन क्लोराइड से मिलाकर सुखाया जाता है। फिर इनको इथाइलीन क्लोराइड के घोल मे मिलाकर उबाला जाता है तथा तत्पश्चात् अलग कर दिया जाता है।

एक अन्य विधि के अन्तर्गत मछली के यकृत को छोटे-छोटे टुकडों मे काटकर बराबर मात्रा के पानी मे डाल दिया जाता है फिर इसमे पेप्सीन नामक फर्मेन्ट डाला जाता है। इस मिश्रण को ४७° तक मिलाते हैं। पुन. सोडियम कार्बोनेट के मिश्रण को डालकर ८० तापक्रम पर उबाला जाता है। आधा घण्टा पकाने के पश्चात तेल को छानकर अलग कर लिया जाता है। इस विधि को प्राय 'एन्जाईम डाइजेशन' विधि कहा जाता है।

भारत में लीवर तेल निकालने के उद्योग—

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय मद्रास तथा केरल-प्रदेश मे मछली से लीवर तेल निकालने के कुछ लघु उद्योग लगाये गये थे। हमारे देश में लीवर तेल विशेषतया 'शार्क' तथा 'रे' मछलियों से निकाला जाता है। कुछ प्रमुख मछलियां हैं जैसे स्कोलिडोन, कोरचियस, स्कार्ईरिना, प्रिस्टस, राइनोबेटस, रिंकोबेटस तथा ट्राइगोन इत्यादि।

तेल निकालने के पश्चात इसकी दुर्गन्ध तथा अनावश्यक पदार्थों को विभिन्न क्रियाओं द्वारा दूर किया जाता है। 'कोनूर' में स्थित 'दि न्यूट्रीशनल रिसर्च लैबोरेट्री' द्वारा मछलियो मे पाये जाने वाले पौष्टिक तत्वो की खोज की जाती है जो कि मुख्यत तेलो से ज्ञात की जाती है। विटामिन 'ए' की मात्रा हर मछली मे एक दूसरे से भिन्न होती है। यह मात्रा १०,००० १.४. से १२,००० १.४. प्रतिग्राम तक हो सकती है। परन्तु जो तेल जन-साधारण को उपलब्ध कराया जाता है उनके लिये विटामिनो के अलग-अलग मानक निर्धारित किये जाते है। जैसे १५०० १ ४ विटामिन 'ए' के तथा १०० १.४ विटामिन डी के। इन तेलो को पुन कृत्रिम विटामिन 'डी' से भरपूर किया जाता है। हमारे देश मे मछली से तेल निकालने के उद्योग मुख्यत उन प्रदेशो मे होता हैं, जहाँ पर 'समुद्री मछली उद्योग' होता हैं। ये राज्य हैं महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडू तथा केरल प्रदेश। महाराष्ट्र तथा केरल मे निकाले जाना वाला लीवर तेल मुख्यतः औषधि निर्माण तथा दैनिक

उपयोग की वस्तुएं बनाने में प्रयोग किया जाता है ।

आज कल अनुमानतः ३०,००० किलोग्राम से ५०,००० कि० ग्राम मछली का तेल प्रति वर्ष उत्पादित किया जाता है । 'लीवर तेल उद्योग' मे कई कठिनाइयो का सामना करना पड़ता हैं जिनमें प्रमुख है, मछलियो की संख्या मे कमी । शार्क मछलियों द्वारा उत्पन्न सन्ताने १५ वर्ष से अधिक जीवित नही रह सकती, फिर आन्तरिक गर्भाधान के पश्चात् भ्रूण के विकास मे, कम से कम एक वर्ष तक लगता है इस प्रकार मादा शार्क को पकड़ने से ये भ्रूण भी साथ मे मारे जाते है । अतः मछली उद्योग को हानि होना स्वाभाविक है । इस प्रक्रिया को रोकने के लिये केरलप्रदेश तामिलनाडू की प्रदेश सरकारों ने विशेष प्रकार के अधिनियम निर्धारित किये है जिनके अन्तर्गत सिर्फ नर शार्क मछली को पकड़ने तथा अन्य नर मछलियों को पकडने की स्वतन्त्रता है ।

मछली उद्योग मे निरन्तर खोज के फलस्वरूप लीवर आयल की मात्रा बढ़ती ही जा रही है । कोजी कोड मे स्थित एक राजकीय तेल उद्योग मछली के तेलो को शुद्ध करके बाजारों में उपलब्ध कराता है । अन्य राज्य सरकारे भी इस उद्योग की उन्नति के लिये प्रयत्नशील हैं लीवर तेल अन्य देशों को निर्यात किया जाता है तथा विदेशी मुद्रा कमाने मे अधिक लाभकारी सिद्ध है ।

मछली का तेल तथा कोड लीवर तेल प्रायः हल्के पीले रंग का होता है । यह तेल साबुन उद्योग मशीनी तेल, स्याही (वाटर प्रूफ)प्रिन्टिग स्याही उद्योग, खाद्य पदार्थ तथा औषधि निर्माण मे प्रयोग किया जाता है विटामिन 'ए' तथा डी की मात्रा होने से इसका महत्व औषधि निर्माण मे अधिक है ।

कोड लीवर तेल जो कि विटामिन ए तथा डी से भरपूर होता है आसानी से पच जाता है । जो रोगी 'क्षयरोग' अथवा सूखा (रिकेट) से पीड़ित होते है । उनके लिये कोड लीवर आयल अत्यधिक लाभप्रद है । इसके अतिरिक्त साधारण घाव तथा जले स्थान पर लगाने में यह तेल प्रयोग किया जाता है ।

मछली के तेल निकालने के पश्चात् बचे हुये पदार्थो को पशुओं के खाद्य पदार्थ तथा खाद निर्माण इत्यादि के उपयोग में लाया जाता है ।

* * *

वैदिक अनुसंधान को नयी दिशा

डा० गंगाराम

हमारा प्राचीन साहित्य अत्यन्त समृद्ध है और हम यह दावा कर सकते है कि सम्पूर्ण विश्व के साहित्यमे इतने प्राचोन ग्रंथ नही है जितने कि हमारे वेद । वेदो के बाद ब्राह्मण ग्रन्थो की रचना हुई, फिर आरण्यको की और उसके बाद उपनिषदो की उसके पश्चात हमारे दो महाकाव्य रामायण और महा भारत और इसके साथ साथ महा पुराण है और १८ ही उपपुराण । जब कि ब्राह्मण ग्रन्थो मे यह दर्शाया गया है कि यज्ञ किस प्रकार के होते है, किस प्रकार से सम्पन्न कराने चाहिए, उपनिषदो मे आत्मा और परमात्मा के उस महान् चिन्तन की झलक है, जो मनुष्य ने अबतक सोचा है । वेद के प्रथम भाष्यकारों में स्कन्द स्वामी, उव्वट महीधर, सायण आदि आचार्यों का नाम आता है, जिन्होने ब्राह्मण ग्रन्थो का आश्रय लेते हुए वेद के यज्ञपरक ग्रन्थो का निर्माण किया। पाश्चात्य विद्वानो ने जो भी वेद भाष्य किये उन सभी पर सायण-भाष्य की छाया है । यद्यपि एक दो विद्वानो ने ऐसे भी मत प्रकट किये है कि वेद को समझने के लिए ब्राह्मण-ग्रंथों एवं सायण से दूर रहना होगा। मेरा केवल यही निवेदन है कि जहाँ तक यज्ञ का प्रश्न है जो भी अर्थ सभव है वे किये जा चुके हैं अब इसमे अधिक इस विषय मे कुछ करना उचित न होगा ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ही एक ऐसे वेदों के भाष्यकार हुए है, जिनकी सूझबूझ बिल्कुल ही निराली थी । उनकी यह स्थापना है कि वेद के विज्ञानपरक अर्थ भी है । ऋग्वेद आदि भाष्य भूमिका लिखते हुए एव ऋग्वेद का भाष्य करते हुये स्वामी जी महाराज ने यह दर्शाया है कि वेद के विज्ञानपरक अर्थ भी होते है। स्वामी जी महाराज एक ऋषि थे और वेदों को वही व्यक्ति समझ सकता है जिसने मन्त्रो का साक्षात्कार किया हो । यही नही, स्वामी जी महाराज ने चारो वेदो की जो विषय सूची बनाई है, उसमे ८० प्रतिशत से अधिक मन्त्र ऐसे हैं जो विज्ञान-परक है ।

आज का युग विज्ञान का है। और जब तक हम अपने सम्पूर्ण साहित्य को विज्ञान की ओर प्रेरित नही करेंगे तबतक भारत के तथा पाश्चात्य देशके लोग वेदो को कर्मकाण्ड के ग्रन्थ ही मानेंगे ।

अब आवश्यकता इस बात की है कि हम वेदों के घिसे-पिटे अर्थों की पुनरावृत्ति करने के स्थान पर ऐसे अर्थ निकालें जिससे कि हम वैज्ञानिक उपलब्धि कर सकें। वस्तुतः हमारे प्राचीन साहित्य में धर्म और विज्ञान में कोई भेद है ही नहीं। विमान-शास्त्र प्रणेता महर्षि भारद्वाज का नाम भी हम इसी श्रद्धा से लेते हैं जिस प्रकार से याज्ञवल्क्य ऋषि का जिनकी अध्यात्म चिन्तन के क्षेत्र में अभूतपूर्व देन है। अब समय आ गया है कि हम अपने सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य को चाहे वह वेद हों, उपनिषद् हों, पुराण हों या उपपुराण हों, एक नयी दृष्टि से देखें और वह दृष्टि विज्ञान की हो। जब तक हम संसार को विज्ञान के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण देन नहीं दे पायेंगे। संसार हमारा ऋण स्वीकार नहीं करेगा, भले ही हम मिथ्या अभिमान से अपना सिर क्यों न ऊँचा करते रहें।

हमें अपने साहित्यको विज्ञान की दृष्टि से देखना पड़ेगा। हमारे यहां ज्योतिष, आयुर्वेद, भवन-निर्माण, गणित, रसायन, भौतिकी आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थ हैं। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो भारत में तो लुप्त हो गये हैं, पर उनका अनुवाद विदेशी भाषा में हो चुका था और अब वे प्रकाशित भी हो चुके हैं। उन में कुछ ग्रन्थ विज्ञान से भी सम्बन्धित हैं। हमारा यह प्रयास होना चाहिये कि हम इस सम्पूर्ण साहित्य को एक स्थान पर एकत्र कर लें, चाहे वह संसार की किसी भी भाषा में हो। अनुसंधान की ओर हमारा यह प्रथम चरण होगा।



भारत में संसार के देशी एवं विदेशी फूलों वाले वृक्षों की संख्या सबसे अधिक है।



आर्किड्ज

डा० पुरुषोत्तम कौशिक

आर्किड शब्द का उद्गम आर्किस से हुआ जिसका अर्थ है टैस्टिकल। यह नाम इसलिए पड़ा कि कुछ आर्किड्ज के ट्यूबर मानव टैस्टिकल (अण्डकोष) जैसे दिखाई पड़ते है।

आर्किड्ज प्राय इनको सुन्दरता के लिए अनूठे जाने जाते हैं। इंग्लिश लेंग्वेज बुक सोसायटी की पाकेट डिक्शनरी इनको गार्जियस प्लान्टस यानि सुन्दर पौधों का अर्थ देती है। यो तो सभी पौधे सुन्दर होते है और सुन्दरता का कोई पैमाना भी नही है। कौन से पौधे किन से सुन्दर है और कौन से सबसे सुन्दर है। वास्तव मे देखने वाले की नजरो पर तो निर्भर करना ही है पर तो भी आर्किड्ज अपनी विभिन्नता के लिए प्रसिद्ध है। धरती की रंग बिरंगे फूलो से सजी हरी साड़ी की शोभा बढाने मे आर्किड्ज का अपना ही निरालापन है। ये स्थलीय भी होते है और अधिपादक भी। स्थलीय आर्किड्ज प्राय: शीतोष्ण कटिबन्धों मे जमीन पर उगते हैं और अधिपादक अथवा एपिफिटिक आर्किड्ज उष्णकटिबन्धी प्रदेशो और उपोष्ण खडो मे पेडों के तने और टहनियों पर उगते हैं। इन अधिपादको की एक बड़ी विशेषता है अपना भोजन स्वय तैयार करना। पेड के तने अथवा टहनियो पर ये सीधे भी हो सकते है और घडी के पैन्डुलम की तरह नीचे की ओर लटकते हुए भी होते है। सैप्रोफिटिक आर्किड्ज बहुत कम है उन मे हरे पत्ते नही होते और अपना भोजन मुख्य गले-सड़े आर्गेनिक पदार्थों से प्राप्त करते है।

प्राचीन समय से ही आर्किड्ज विश्व के विभिन्न भागो मे जहां-जहां ये पाये जाते है बड़े लोकप्रिय रहे है। साहित्य मे तरह तरह की उपमायें इनकी सुन्दरता के बारे मे मिलती है। जैकाब ब्रेयने ने १६७८ मे बड़े ही रोचक शब्दों मे लिखा—'यदि प्रकृति ने पौधों को बनाने मे अपना खेल-तमाशा दिखाया है तो यह आर्किड्ज मे स्पष्ट नजर आता है। इन फूलों की विभिन्न आकृतियां हमे इनकी अत्यधिक प्रशसा के लिये प्रेरित करती है। वे छोटे पक्षियों का, छिपकली का और कीड़ों का रूप धारण कर लेते हैं। देखने मे ये आदमी जैसे, औरत जैसे कभी कभी

गम्भीर ढाल वाले योद्धा जैसे और कभी कभी एक गवार जैसे लगते हैं और हमें हसने के लिये बाध्य कर देते है। ये एक कछुवे की, उदास स्थल मेढ़क की और चंचल दात कटकटाते बन्दर की आकृतियों के प्रतीक हैं। उनकी अद्भुत विभिन्नताओं के कारण मेरे ख्याल मे प्रकृति के गुप्त नकाब में छुपे हैं"। एम. बी. फोस्टर तथा आर. एस. फोस्टर ने सन् १९४६ मे अपनी पुस्तक "उष्ण कटीबन्धो के आर्किड्ज" में एक और सचित्रित उपमा दी है "नृत्य के लिए अपने साथी लो—आदमी एक गामेसा आर्किड है और महिला एक आनसिडियम आर्किड है।"

वितरण—आर्किड परिवार के लगभग ७३५ जैनरा और १७००० स्पिसिज अनुमानित है। एफ. आर. आई. देहरादून के जे. सी. वर्मा और के. सी. साहनी के १९७६ के एक शोध-पत्र के अनुसार आर्किडज की १३०० स्पिसिज भारत मे मिलती हैं। भारत मे आर्किड्ज हिमालय की बाह्य शृंखलाओं विशेषकर पूर्वी हिमालय के उष्ण कटिबन्धी और उपोष्ण वनो मे मिलते हैं। सिक्कम, दार्जिलिंग, मेघालय की खासी और जैनतिया पहाड़ियों मे तथा अरुणाचल प्रदेश में तो आर्किडज का खजाना है। अकेले मेघालय में लगभग पौने तीन सौ स्पिसिज मिलने का अनुमान है। पंजाब विश्वविद्यालय के प्रो० पी एन. मेहरा और डा० एस. पी. विज ने १९७४ के एक लेख में दार्जिलिंग के स्थलीय और अधिपादक आर्किड्ज की आल्टिच्यूड के अनुसार तीन श्रेणियां बनाई और ऐसा पाया कि १८०० मी. से ऊपर अधिपादकों की फरिक्वन्सी कम हो जाती है। अन्तिम रेंज २७०० से ३६०० मी. की ऊंचाई तक तो बहुत ही कम मिलते है पर स्थलीय आर्किडज २७०० से ४२०० मी. ऊंचाई तक मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भारत के पूर्वी और पश्चिमी घाटों मे भी आर्किड मिलते है।

कल्टिवेशन—बीज से इनका उगाना बहुत ही कठिन होता है क्योंकि इन के बीज बहुत छोटे होते हैं और उनके उगने के लिए विशेष परिस्थितियो और फगस की एसोसियेशन की आवश्यकता होती है। यद्यपि टिस्यू कल्चर मिडियम मे प्रयोगशाला मे बीज से भी और पौधे के अन्य भागों से भी नये पौधे बनाए जा सकते है। इनकी वेजिटेटिव प्रोपेगेशन के लिए स्थलीय आर्किडज को ५० : ५० लीफमोल्ड और मिट्टी मे तथा अधिपादकों को पुरानी लकडी के टुकडो तथा लकडी के कोयले पर उगाया जाता है। इसके अलावा तापक्रम और नमी का भी ख्याल रखा जाता है। देश के विभिन्न भागों मे कई आर्किडालय है। इनमे से नेशनल आर्किडेरियम, शिलांग (मेघालय), अरुणाचल प्रदेश सरकार का टीपी

आर्किड स्टेशन, भालुकपोंग, आर्किड हाउस, बोटैनिकल गार्डन्ज पजाब विश्वविद्यालय चडीगढ़ तथा दक्षिणी भारत के पौधों के लिए आर्किड हाऊस लालबाग, बैंगलौर तथा आर्किड-आलय, भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण विभाग कैम्ट्यूर उल्लेखनीय है।

वर्गीकरण—अत्यधिक विभिन्नतायें होने के कारण आर्किडेसी परिवार के वर्गीकरण के बारे में अनेक मतभेद है। सुविधानुसार आर्किडेसी को तीन सब-फेमिलिज एपीस्टेशिआयडी, साइपरिपिडिआयडी, आर्किडिआइडी में बांटा गया है। एपोस्टेशिआइडी के अतिरिक्त आर्किडेसी के फूल प्राय. एक व्यास सम्मित (जाइगोमार्फिक) होते हैं। स्टेमन्ज के आधार पर आर्किड्ज दो प्रकार के होते हैं। एक पुंकेसरी (मोनन्डरस) जिन में एक स्टेमन होता है तथा द्विपुंकेसरी (डाइएन्डरस) जिन में दो स्टेमन होते है। मोनन्डरस आर्किड्ज की सख्या अधिक है।

पुष्प संरचना—प्रकृति ने आर्किड फूल की सरचना बड़े ही अद्भुत ढग से की है। लिलियेसी के फूलो की भांति आर्किड मे भी परिदल पुज (पेरियान्थ) दो चक्करो मे तथा दलाभ (पेटालायड) होता है। फूल के मुख्य भागो का वर्णन नीचे दिया गया है।

ओष्ठक—पश्चय पखुड़ी बड़ी होती है इसे ओष्ठक अथवा लेबेलम कहते है। अण्डाशय के १८०° पर घूमने की वजह से पश्च पंखुड़ी यानि ओष्ठक अग्र अवस्था में आ जाता है और प्रागण के लिए कोड़ों के उतरने का स्थान बनने के काम आता है। ओष्ठक की आकृतिया विभिन्न प्रकार की होती हैं। असल मे आर्किड फूलो की विभिन्नतायें मुख्यता अनेक प्रकार के ओष्ठक होने के कारण है। कुछ मे ओष्ठक सपुट (सैकेट) कुछ मे लोब्ड कुछ मे अन्य अजीब आकृतियों का होता है। ओष्ठक का आकृतिया इतनी सुलेखा देने वाली हो सकती है कि जब इरिक्सन ने सन् १६५१ मे अपने प्रयोग के लिए नर वास्पस को आर्किड फूलो और उनकी मादाओं में से चुनने का मौका दिया तो उन्होने प्रायः आर्किड फूलो को चुना। आस्ट्रेलियन स्थलीय आर्किड और थाइनोड वास्पस के मध्य आभासी मैथुन (सुडोकापूलेशन) देखा गया है। ड्रगन आर्किड का ओष्ठक मादा थाइनीड वास्प के आम साइज का और लोब्ड होता है। इस ओष्ठक को कोड़े के हैड थोरक्स और एब्डामन से मिलते जुलते तीन भागो मे बांटा जा सकता है और पार्श्वों से टांगो जैसी बनावट के भाग बाहर निकलते हैं और डब्ल्यू. पी. स्टाउटामायर के अनुसार बेचारे कीड़ो के लिए "नैतिक नीचता" का कारण बनते हैं। उसने ऐसा कहते हुए इवाल्यूशन की थ्योरी मे विश्वास न रखने वालों पर हास्य प्रकट किया है।

अण्डाशय—लिलियेसी के सदस्यों की भांति आर्किडेसी में भी ओवरी ट्राइकारपलरी होती है और वनस्पति विज्ञान की भाषा में इनफिरियर कहलाती है पर इवोल्यूशन की दृष्टि से सुपिरियर ओवरी से आगे बढ़ी हुई है। इस मे अनेकों बीजाण्ड (ओव्यूलज) होते हैं। बहुत से फूलों में बीजाण्ड निषेचन के लिए तैयार होते हैं पर अधिकतर आर्किड फूलों के अण्डाशय में ओव्यूलज फूल खिलते समय नहीं होते और परागण के बाद बनते है। एक अण्डाशय में अनगिनत ओव्यूलज होते हैं ताकि अधिकतम बीज बन सकें। प्रकृति ने ऐसा इसलिए किया है कि उनमें से केवल कुछ को ही उगने का अवसर मिलता है। उनके उगने के लिए विशेष परिस्थितियों का होना आवश्यक है और किसी विशेष फंगस के सहयोग की आवश्यकता होती है।

अण्डाशय, वर्तिका (स्टाइल) और वर्तिकाग्र आधार रूप से कार्पल के तीन भाग हैं पर वे इस प्रकार से संरचित हैं कि अलग अलग से नहीं पहचाने जा सकते।

स्तम्भ—कालम अथवा स्तम्भ का बनना आर्किड फूल की एक विशेषता है यह स्टेमन्ज और स्टाइल के मिलकर जुड़ने से बना हुआ होता है। कुछ परिमिटिव आर्किड्ज जैसे साइपरिपिडियम, स्पायरन्थिस तथा न्यूविडिया आदि में स्टेमन्ज और स्टाइल पूर्णतया नहीं जुड़े हुए होते।

कुछ स्पीसिज में कालम की वैन्टर्ल साइड से एक तरफ बढ़ा हुआ भाग होता है जिसे कालम-फुट कहते हैं। कालम-फुट के सिरे से ओष्ठक जुड़ा हुआ होता है।

रोस्टैलम—वर्तिकाग्र का कुछ भाग एक स्टैराइल भाग के रूप में बना होता है। यह वह उसक है जो पराग कोष को फगशनल स्टीगमा से अलग करता है। यह आर्किड फूल की सर्वाधिक एडवान्स्ड फीचर है। रोस्टैलम एक फूल से दूसरे में पोलन ले जाने में भाग लेता है और इस प्रकार से पर परागण में सहायक है।

वर्तिकाग्र—कालम पर नीचे की ओर एक चमकदार कम गहरा गड्ढा होता है इसे स्टीगमैटिक केवीटी भी कहते हैं। आर्किड्ज में ट्राइकार्पलरी अवस्था स्टिगमा से जाहिर है। स्टिगमा की तीन लोब इकठी होती हैं और उनको अलग-अलग से पहचानना मुश्किल है पर बहुधा स्टिगमा इसके धरातल पर हल्की लाइनों से अलगाया होता है। स्टिगमा पर एक चिपकने वाला मीठा घोल जमा होता है जो कि पालन ग्रेन्ज के उगने मे सहायक रहता है।

पोलिनिया—कुछ आर्किड्ज में दूसरे आम पौधों की तरह पाउडर जैसे पालन होते हैं जो

अलग- अलग दोनों में बिखर जाते हैं पर अधिकतर आर्किडज में पालन वेक्सी मासिज में इकट्ठे हो जाते हैं जिन्हें पोलिनिया कहते है कुछ पोलिनिया पैकेटस में बटे होते है और सैक्टाइल कहलाते है। एडवान्सड आर्किड्ज में पोलिनिया सख्त और वेक्सी होते हैं। ट्राइब एपीडन्ड्री में २,४,८ और कभी-कभी १२ पोलिनिया भी हो सकते हैं।

वैजिटेटिव फार्मस-पौधे तीनप्रकार के होते हैं

१. मोनापोडियलज जिनमें मेन एक्सिज प्रति साल आगे बढ़ती रहती है और पुष्पक्रम (इनफलारसंस) पार्श्व से निकलती है।

२. अकर्नंथस सिमपोडियम, जिनमें मुख्य अक्ष वार्षिक भागों के बने होते हैं और हर भाग एक स्केल से शुरु होता है और पुष्पक्रम में पूरा होता है।

३. पल्यूर्नथस सिमपोडियम, जिनमें पुष्पक्रम पार्श्व में निकलता है और नये साल का तना साल के अन्त तक बढ़ता रहता है। कुछ आर्किडज में तना फूल जाता है और एक विशेष भाग-में रूपांतरित हो जाता है और आभासी शल्कन्द या सूडोबल्ब कहलाता है। सूडोबल्ब एक गांठ वाले भी होते हैं और कुछ में बहुगांठी भी होते है। प्रायः सूडोबल्ब ज्यादा बड़े नहीं होते पर मलाया के 'ज्यान्ट आर्किड' ग्रामैटोफिलम मे तीन मीटर तक लम्बे हो जाते हैं। कुछ पौधों में पत्ते तलवारों जैसे मोटे होते है जैसे कि ओबिरोनिया में।

आर्थिक महत्व—

१. वैनिला आइसक्रीम का नाम सुनकर किस के मुंह में पानी नही भर आता। इसकी महक वैनिला नाम के आर्किड के फ्रूट कैप्सूल की खुशबु के कारण आती है। कुछ आर्किडज के ट्यूबरज में पर्याप्त मात्रा में स्टार्च और दूसरे कार्बोहाइड्रेट होते है पर आर्थिक दृष्टि से ये बड़े महत्व नहीं रखते हैं।

२. इन पौधों की सुन्दरता और मधुर खुशबु वाले फूलों के कारण ये शायद विश्व के सबसे कीमती हार्टिकलचरल प्लान्टस है। खासी हिल्ज के रेअर आर्किडज जैसे पैफियोपैडाइलम फेरियानम, पैफियोपैडाइलम इनसिगने तथा वांडा सिरुलिया के मुंह मांगे दाम मिलते हैं।

१८८५ में एराइडिस सरोडेरी का एक पौधा भारत से योरुप में निर्यात किया गया। पन्द्रह इंच लम्बी फूलों की स्पाइक वाले इस पौधे ने ८६ गिन्नियां कमाई। सिप्रिपीडियम इवरनियम जो ब्रह्मा से भेजा गया था १०४ गिन्नियों में बिका। १९०१ में पैफियोपैडाइलम फेरियानम जो कि १८५७ में इग्लैंड भेजा जा चुका था, के पुनः खोजने के लिए १००० पौंड का पुरस्कार रखा गया। प्रथम विश्व युद्ध से बिल्कुल पहले ओडन्टो-

गलोसम कॅरिस्पम की वैरायटी कुकसोनिया १७२० गिनियों का मूल्य पा सका।

३. आर्किड दवाईयों मे भी काम आते है। पुराने जमाने मे तो इनको सुपरनैचुर्ल प्लान्टस समझा जाता था और लोग सोचते थे कि केवल इनके छूने मात्र से ही रोग दूर हो जाता है आधुनिक प्रयोगों के अनुसार डन्डरोबियम ग्रोवेटम के सारे के सारे पौधे का रस पेट की सभी प्रकार की बीमारियों में तथा बाइल को तीव्र करने मे हितकारी पाया गया। इयूलोफिया कैमपैस्टरिस (लाहोर सालिप) का आयुर्वेद मे प्रयोग होता है। हिन्दी मे इसे सालीब मिश्री कहते है और हृदय रोगों मे हितकारी है। बाजार मे बिकने वाली सालिप हैबिनेरिया कोर्मेलिनिफोलिया तथा आर्किस लैटिफोलिया से भी प्राप्त किया जाता है।

४. ट्रोपिकल फारस्ट्स मे इकोसिस्टम को बैलेन्स रखने में आर्किडज का बडा महत्त्वपूर्ण योगदान है।

सुझाव— अधिकतर ट्रोपिकल आर्किड्ज अधिपादक है जो बनों में पुराने पेडों पर उगते हैं। प्रकृति ने आर्किड के फल मे अनेकों बीज बनाये है पर उनमे से बहुत कम उगते है। निर्दयता पूर्ण ढंग से बनो को साफ करने मे इन सुन्दर पौधो को कुछ स्पीसिज का तो बडा खतरे मे है। ऐसे सभी आर्किड्ज की सूची तैयार करना आवश्यक है। कार्मशियल आर्किड हन्टर भी इनके भारी शत्रु है। इनके सरंक्षण के लिये बनो का कायम रखना जरुरी है और इनके बेरहमी से उखाड़े जाने के विरुद्ध विशेष कानून बनाये जाने की कड़ी आवश्यकता नजर आती है।

* * *

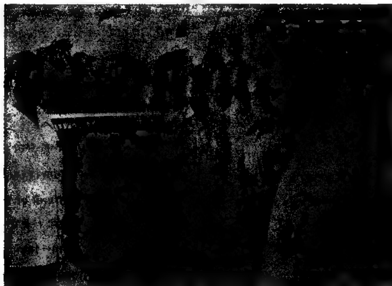
संसार में ५,०००, ०००, ०० , अर्थात् ५ × $१०^{११}$ शार्ट टन कोयला विद्यमान है (एक शार्ट टन = २००० पौण्ड)।

कांगड़ी ग्राम सुधार योजना

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय **निदेशक : डा० विजयशंकर**

२६ जुलाई १९८१ को यह ग्राम पूरे उत्तरी भारत में लाखों, करोड़ों लोगों को टेलीविज़न स्क्रीन पर दिखाई दिया :—

"ग्रामीणों के भोले भाले चेहरे। इन से गरीबी बाहर झांकती हुई। मकान के नाम पर झोपड़ी ही झोपड़ी। विश्वविद्यालय की महिलायें ग्राम की महिलाओं के साथ वृक्षारोपण करते हुई। विश्व-विद्यालय के कुलपति, आयुक्त मुरादाबाद मण्डल एवं जिलाधीश बिजनौर गुलमोहर के पौधे लगाते हुए। नई सड़क पर काम करते हुए सैकड़ों पुरुष एवं महिला श्रमिक। बान बुनती हुई मशीनें। टोकरी बनाती हुई महिलाएँ। नए कुएँ की खुदाई। गांव का पिछड़ापन प्रत्यक्ष। इस पिछड़ेपन से छुटकारा पाने का प्रयास। करवट लेता हुआ गांव"।



२१ जुलाई १९८१ को श्री अरविन्द वर्मा आई. ए. एस. आयुक्त मुरादाबाद मण्डल द्वारा कांगड़ी मार्ग का शिलान्यास एवं उद्घाटन। दायें से : श्री धर्मपाल हीरा कुलसचिव, डा. विजयशंकर निदेशक, श्री जितेन्द्र जी सहायक मुख्याधिष्ठाता, श्री बलभद्र कुमार हूजा कुलपति, श्री अनीस अन्सारी जिला अधिकारी बिजनौर, श्री अरविन्द वर्मा आयुक्त मुरादाबाद मण्डल एवं श्री धर्मपाल राव खण्ड विकास अधिकारी नजीबाबाद।

विज्ञान और सर्वाङ्गीण ग्राम विकास:—

१६७६ में इण्डियन साइन्स कांग्रेस के ६३ वर्ष के इतिहास में पहली बार वाल्टायर में हुई वार्षिक गोष्ठी के अवसर पर एक मुख्य विषय चुनने की और उस पर विचार विमर्श करने की प्रथा चालू हुई। वाल्टायर साइन्स कांग्रेस का मुख्य विषय था—'विज्ञान और सर्वांगीण ग्राम विकास'। इस प्रकार साइन्स कांग्रेस ने पहली बार समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व की ओर ध्यान दिया। इस वार्षिक गोष्ठी के अवसर पर बोलते हुए श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा था —

"आपके द्वारा वार्षिक गोष्ठी के लिए एक मुख्य विषय चुनने की नई पद्धति चलाने और उसके लिए 'ग्राम विकास' विषय को छांटना सरकारी नीतियों को आवश्यक सामग्री एवं दिशा प्रदान करेंगे।"

इस बात को आगे बढ़ाते हुए वित्त मन्त्री श्री सी० सुब्रमण्यम ने १६७६-७७ का बजट पेश करते समय स्थानीय साधनों का, विज्ञान एवं टेक्नालाजी के ज्ञान के द्वारा, प्रशस्त उपयोग करने पर बल दिया। इसके लिए उन्होंने बजट में १५ करोड़ रुपये की व्यवस्था की। शीघ्र ही अनेक विश्वविद्यालयों, उद्योगों, स्वतः प्रवृत्त संस्थाओं वैज्ञानिकों और सूचना एवं प्रसार सेवाओं ने ग्राम विकास के विषय में रुचि लेना आरम्भ कर दिया। कुछ विश्वविद्यालयों ने सम्पूर्ण ग्राम विकास के कोर्स प्रारम्भ कर दिए। अनेक विश्वविद्यालयों एवं इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नालोजी ने ग्राम अपनाने की स्कीम चालू की। साइन्टिफिक जरनलों में भी ग्राम विकास विषयक पत्र छपने लगे। वि०वि० अनुदान आयोग द्वारा १६७८ में प्रकाशित पुस्तिका 'हायर एजूकेशन इन इण्डिया'—ए पालिसी फ्रेम' में विश्वविद्यालयों को सामाजिक विकास एवं परिवर्तन में योगदान देने पर बल दिया गया। पुस्तिका में ऐसे शोध प्रोग्रामों की सिफारिश की गई है जिनसे समाज का विकास हो, विशेष रूप से ग्रामों का विकास हो। इसके लिए कक्षा की चारदीवारी से बाहर आकर समाज में घुलमिल कर उसकी समस्याओं को समझना पड़ेगा, उनका हल खोजना पड़ेगा।

वैज्ञानिक ग्रामोत्थान के लिए सबसे पहली बात क्षेत्र का वैज्ञानिक तुलन-पत्र बनाना है जिससे वहां की विकास सम्बन्धी परिसम्पत्ति एवं देयता का ज्ञान प्राप्त हो सके। वे ज्ञान ऐसे प्रोजेक्ट्स बनाने में सहायक होगा जिससे गरीब ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सके।

गुरुकुल कांगड़ी वि०वि० में ग्राम विकास की सुगंध कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा आई.ए.एस. (अवकाश प्राप्त) के माध्यम से

आई। इस विश्वविद्यालय के लिए इस योजना का एक विशेष महत्व है क्योंकि कांगड़ी शब्द जो उस के नाम से जुड़ा हुआ है एक ग्राम का नाम है—वह ग्राम जहां स्वामी श्रद्धानन्द जी ने १९०२ में इस विश्वविद्यालय की स्थापना की। इस समय भी जिस स्थान पर विश्वविद्यालय स्थित है वह भी गांव मे आता है—'जगजीतपुर ग्राम'। २५ जुलाई १९८१ के दिन गु. कां. वि. वि. ने अपने इतिहास में एक नया पृष्ठ खोला। इस दिन श्री कुलपति जी के उपक्रम से कांगडी ग्राम विकास योजना का शुभारंभ हुआ। योजना का उद्घाटन श्री अरविन्द वर्मा आई. ए. एस. आयुक्त मुरादाबाद मण्डल ने किया। श्री अनीस अन्सारी जिलाधीश बिजनौर, श्री श्यामलाल गोड जिला विकास अधिकारी एवं अन्य अधिकारी इस अवसर पर उपस्थित थे।

कांगड़ी ग्राम और योजना के बारे में एक संक्षिप्त परिचय रिपोर्ट नीचे प्रस्तुत है। इस की एक प्रति २५-७-८१ को डा० विजयशंकर योजना निदेशक ने श्री अरविन्द वर्मा आयुक्त मुरादाबाद को भेंट की।

कांगड़ी ग्राम सुधार योजना—

हिमाचल पर्वत की उपत्यका में पवित्र गंगा नदी के तट पर स्थित यह ग्राम एक ऐसा स्थान है जिस तरह के स्थान की कल्पना बुद्धि निर्माण के लिए वेदों में की गई है :—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रोऽजायत ॥

—यजुर्वेद

पर्वतों की गुफाओं मे तथा नदियों के संगम पर विप्र अर्थात् विद्वानों की बुद्धियों का निर्माण होता है।

महात्मा मुंशीराम जी को, जो बाद मे चलकर श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी के नाम से विख्यात हुए, गुरुकुल खोलने के लिए एक ऐसे ही स्थान की तलाश थी। ऐसे स्थान की खोज में स्वामी जी ने अनेक स्थानों को देखा। अन्त में उन्होंने जब उत्तर-प्रदेश का भ्रमण किया और वह कांगड़ी ग्राम में आये तो अनायास इस ग्राम ने उनको बांध लिया। यहां उन्हे वह सब कुछ मिल गया जिस की उन्हे तलाश थी, जो उनके स्वप्नों में था—पर्वत की हरी भरी उपत्यका और पास में नदी का बहता हुआ, किलोले करता हुआ पवित्र जल, चरैवेति-चरैवेति के सिद्धान्त को चरितार्थ करता हुआ। बिजनौर निवासी श्री अमन सिंह को, जिनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति यह ग्राम ही था, जब स्वामी जी की

इच्छा का ज्ञान हुआ तो उन्होंने यह अपना सौभाग्य समझा और पूरा ग्राम गुरुकुल के लिए दान कर दिया। बिजनौर निवासियों के लिए विशेष रूप से कांगड़ी ग्राम के निवासियों के लिए यह एक बड़का विषय है कि उनके जिले में श्रीअमनसिंह जैसा सपूत पैदा हुआ और उनके जिले में वेदों की कल्पना का आदर्श स्थान विद्यमान है जहां और जिसके नाम पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने १६०२ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की, जो आज एक विश्व-विख्यात संस्था है, नींव रखी।

जब भी इस विश्वविद्यालय का नाम लिया जाता है और लिया जायेगा तीन नाम स्वामी श्रद्धानन्द, मु० अमनसिंह और कांगड़ी ग्राम सदैव हमारे सामने उभर कर आते हैं और आते रहेंगे। इन्हें भुलाया नहीं जा सकता। विश्वविद्यालय के लिए इनकी देन असाधारण एवं चिरस्मरणीय है। १६२४ में गंगा की बाढ़ के बाद जिससे गुरुकुल के विशाल भवनों को खतरा पैदा हो गया यह संस्था नये भवनों में हरिद्वार ले आई गई। लेकिन कांगड़ी नाम इसके साथ लगा रहा। नये परिसर में एक विख्यात एवं सर्वविदित स्थान अमनचौक है। गुरुकुल का बच्चा-बच्चा इस नाम से परिचित है। विश्वविद्यालय का सीनेट हाल और कुलपति भवन (श्रद्धानन्द भवन) इसी चौक के साथ लगे हुए हैं।

आज भी कांगड़ी ग्राम और उसमें खड़ी विश्वविद्यालय की विशाल एवं शानदार इमारत और वहाँ की पवित्र भूमि गुरुकुलवासियों के लिए एक तीर्थस्थान है—पुण्यभूमि। विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति श्री गोवर्धन बलभद्र कुमार हूजा आई.ए.एस. (रिटायर्ड) ने पुण्यभूमि की ओर विशेष ध्यान दिया है। इस वर्ष ऋषिबोधोत्सव के पर्व पर वह पुण्यभूमि में तीन दिन रहे। यह पर्व ग्रामवासियों के साथ बड़ी धूम-धाम से गुरुकुल-वासियों ने वहीं मनाया। वहां की स्थिति का अध्ययन किया गया। ग्रामवासियों से उनकी समस्याओं के बारे में चर्चा हुई। देखा गया कि विश्वविद्यालय भवन एवं भूमि को नदी से खतरा बना हुआ है। बहुत से वृक्ष काट लिए गये हैं भूमि-कटाव जारी है। यहाँ तक पहुंचने के लिए पक्की सड़क तक नहीं है। बिजली नहीं है। बहुत पिछड़ा हुआ इलाका है। इसकी ओर किसी का ध्यान नहीं है। सरकार भी चुप है। इस सब को देखते हुए श्री कुलपति जी ने एक महान एवं पवित्र निर्णय लिया कि विश्वविद्यालय द्वारा कांगड़ी ग्राम सुधार योजना चालू की जाये। ग्राम में स्थित पुराने भवनों की सुरक्षा एवं उनका सदुपयोग किया जाये और जुलाई १६८१ में ग्राम में वनमहोत्सव मनाया जाय। इस कार्य हेतु श्री कुलपति जी ने डा० विजयशंकर अध्यक्ष वनस्पति विज्ञान विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को योजना का निदेशक नियुक्त किया। गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय के सुयोग्य एवं उत्साही स० मुख्या-धिष्ठाता श्री जितेन्द्र जी एवं कृषि सलाहकार

श्री के.पी.गुप्ता इस कार्य मे पूर्ण सहयोग एव सहायता देकर योजना को सफल बनाने में महत्व-पूर्ण भूमिका निभा रहे है।

इस योजना के सम्बन्ध मे श्री कुलपति जी, डा० विजयशकर जी एव श्री के पी गुप्ता जी को लेकर, जिलाधीश बिजनौर से ६ जुलाई १६८१ को बिजनौर मे मिले। जिलाधीश महोदय ने जिला विकास अधिकारी को बुलाकर योजना के बारे में बातचीत की और विश्वविख्यात कागडी ग्राम को सम्भालने का आश्वासन दिया। उनके परामर्श क अनुसार २५ जुलाई १६८१ को कागडी ग्राम मे वनमहोत्सव मनाने का कार्यक्रम बनाया गया जिसका उद्घाटन श्री अरविन्द वर्मा कमिश्नर मुरादाबाद डिवीजन द्वारा होना निश्चित हुआ। ६ जुलाई १६८१ को इस कार्यक्रम के सम्बन्ध मे गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के सहायक मुख्याधिष्ठाता श्री जितेन्द्र जी, श्री के पी गुप्ता कृषि सलाहकार एव डा० विजयशकर योजना निदेशक कागडी ग्राम गये और वहां जिला विकास अधिकारी श्री श्यामलाल रोड, एस डी एम-नजीबाबाद श्री सी.पी मिश्रा खण्डविकास अधिकारी नजीबाबाद श्री धर्मपाल राव एडी ओ. कोआपरेटिव एव अन्य अधिकारी गण ने कागडी ग्राम के प्रधान श्री रिछपाल सिंह एव समस्त ग्राम-वासियो के साथ बैठकर विचार विमर्श किया और कांगडी ग्राम के विकास की रूपरेखा तैयार की गई। २५ जुलाई को होने वाले वनमहोत्सव के कार्यक्रम की भी रूपरेखा तैयार की गई और उस दिन ५ हजार पौधे लगाना निश्चित हुआ। इनमे नानाप्रकार के छायादार, फलवाले औषधिगुण-वाले प्रदूषण दूर करने वाले एव उद्योगो मे काम वाले पौधे सम्मिलित किये गये।

विश्वविद्यालय द्वारा कागडी ग्राम सुधार योजना की बात ने न केवल कागडी ग्राम के वासियो मे उत्साह एवं आशा का सचार किया है बल्कि कागड़ी से लगे हुए ग्राम गाजीवाला, श्यामपुर, सजनपुरपाली एव दूधला दयालवाल के वासियों मे भी योजना के प्रति रुचि एव उत्साह पैदा किया है। इन ग्रामो की भी अनेक समस्याय कागडी ग्राम की समस्याओ से मिलती जुलती हैं। यह लिखते हुए प्रसन्नता होती है कि श्यामपुर एव सजनपुर पीली के प्रधानो ने गुरुकुल आकर ग्रामो की समस्याओ पर गुरुकुल कागडी विश्व-विद्यालय के सहायक मुख्याधिष्ठाता श्री जितेन्द्र जी कृषि सलाहकार श्री के. पी. गुप्ता और योजना निदेशक श्री डा०विजयशकर जी से विचार विमर्श किया और अनेक लाभकारी जानकारी दी।

बुनियादी जानकारी—

अभी तक कांगडी ग्राम के बारे में निम्न-लिखित बुनियादी जानकारी प्राप्त हुई है :—

ग्राम कांगड़ी (जिला बिजनौर)

आधारभूत आंकड़े

(i) क्षेत्रफल, वन, कृषि, चरागाह आदि

१. सम्पूर्ण क्षेत्रफल	१२२७ हे०	
२. वनक्षेत्रफल	७३१	"
३. शुद्ध बोया गया क्षेत्रफल	२६६	"
४. एक बार से अधिक बोया गया क्षे०	१४७	"
५. वर्ष में उपयोग किया क्षेत्रफल	४४३	"
६. वर्तमान परती	१६	"
७. अन्य परती	३४	"
८. उपयोग न की जानेवाली भूमि	३५	"
९. कृषि के अतिरिक्त अन्य उपयोग में आनेवाली भूमि (गृह सस्था आदि)	११५	"
१०. स्थायी चरागाह एवं अन्य चराई भूमि		
११. सिंचित क्षेत्रफल	१३ हे०	
१२. मुख्य फसलें एवं उनका क्षेत्रफल		
(१) धान	२२ हे०	
(२) मक्का	२२ हे०	
(३) मूंगफली	१५	"
(४) ज्वार	५	"
(५) बाजरा	१५	"
(६) सब्जी	८७	"
(७) तिल	७३	"
१३. नलकूप डीजल निजी	५	
१४. पम्पिंग सेट	२	

(ii) आबादी एवं जीविकोपार्जन के साधन

(१) ग्राम की आबादी	८१२
(२) कुल परिवार संख्या	१६०
(३) अनुसूचित आबादी	२२५
(४) " परिवार संख्या	४५
(५) अन्य आबादी	५८७
(६) अन्य परिवार संख्या	११५
(७) लघुकृषक परिवार	१६
(८) सीमित कृषक परिवार	६०
(९) खेतिहर मजदूर	४३
(१०) दस्तकार	४
(११) सामान्य कृषक	२०

ग्राम मे हरिजन एवं पिछड़ी जातियां पाल, कहार अधिक हैं। इनमे से अनेक परिवार गरीबी रेखा (पावर्टी लाइन) के नीचे हैं। इनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने वाली योजनाओं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

ग्राम की समस्याएं — कुछ सुझाव :

ग्राम की मुख्य समस्याएं निम्नलिखित हैं :—

१ मुख्य सड़क से ग्राम तक पक्की सड़क बनाना।

२ पेय जल के लिए नया कुआं खुदवाना।

३ बाढ़ से बचाव के उपाय निकालना।

४ फसलों को हाथियों द्वारा नष्ट होने से बचाना।

५ शिक्षा के लिए समुचित व्यवस्था करना, पुस्तकालय खोलना।

६ डिस्पेन्सरी कायम करना।

७ गरीब ग्रामवासियों के लिए सरकार से ऋण दिलाना जिससे वे कोई रोजगार चालू करके अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकें।

८ कांगड़ी ग्राम में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के भवनों का उपयुक्त उपयोग जिससे ग्रामवासियों को भी लाभ हो।

९ कांगड़ी ग्राम में स्थित विश्वविद्यालय के परिसर मे वृक्ष रोपण जिससे भवनों एवं भूमि को गंगानदी से होने वाली क्षति से बचाया जा सके। बांध बनाना नितान्त आवश्यक है।

१० विश्वविद्यालय के पास गंगानदी के ऊपर पुल बनाकर सीधा कनखल तक सड़क का निर्माण।

११ बिजली का प्रबन्ध।

१२ पशुओं के लिए चरागाह के लिए भूमि का प्रबन्ध।

ग्रामवासियों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए निम्नलिखित योजनाओं पर विचार किया जा सकता है:—

१ रेशम उद्योग चालू करना। जिन वृक्षों की इनके कीटपालन को आवश्यकता होती है जैसे—शहतूत, वे यहाँ सुगमता से लगाये जा सकते है।

२ कांगड़ी ग्राम हरिद्वार से काफी निकट हैं। हरिद्वार मे अब यात्री पूरा वर्ष आते रहते है। अत. दूध की मांग बराबर बनी रहती है। ग्रामवासियों को गाय भैंस पालने को उत्साहित किया जाय और इसके लिए उन्हें आर्थिक सहायता एवं पशुपालन की पूरी जानकारी दी जावे।

३ कांगड़ी ग्राम के पास एक बड़े क्षेत्रफल में वन बने हुए है इन वनो में बहुत से औषधि-पौधे उगते है। इनको एकत्रित करने एवं इनके विक्रय का सुनियोजित कार्यक्रम बनाया जा सकता है। कुछ औषधि-पौधो की खेती का कार्यक्रम भी इस क्षेत्र मे चालू किया जाना चाहिये। कैंसर के इलाज मे, दमे के इलाज में काम आने वाले पौधे, कार्टीसोन जैसी विख्यात औषधि बनाने मे जो पौधे काम मे आते है, ये एवं अन्य महत्वपूर्ण औषधीय वनस्पतियाँ इस क्षेत्र में उगाई जा सकती है। इपिकानिया का पौधा जिससे हमेटिन जैसी महत्वपूर्ण एवं कीमती औषधि बनाई जाती है उसको भी यहा लगाकर देखा जा सकता है। इस समय हमेटिन का मूल्य २२ हजार रु प्रति किलोग्राम है। इन पौधो के कल्टीवेशन ट्रायल विश्वविद्यालय की भूमि में किया जाना बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। इनमे से कुछ पौधे जैसे केथेरेंथस रजियस (कैंसर की दवाई) एवं टाइलो फैरा

इन्डिका (दमे की दवा) २५ जुलाई को वृक्षारोपण के अवसर पर ग्राम मे लगाये गये।

बाढ़ एवं हाथी समस्याओं पर विचार हुआ। कांगडी ग्राम के ऊपर से बगलेवाली ढाली के सामने से नहर के लिए मिट्टी उठाई गई है ऐसा बताया गया है। इसमे बाढ का खतरा बढ गया है। इस ओर ध्यान देने को आवश्यकता है। किसी भी स्कीम को चालू करने से पहले इस बात का ध्यान रखा जाय कि वहां की इकालाजी एवं पर्यावरण मे असन्तुलन न आ जाये।

हाथो का खतरा मुख्यतया कांगडी और गाजीवाली ग्राम को बताते है। क्योकि इनके सामने बांस का जगल है जिसके कारण हाथी आकर्षित होते हैं। यदि इस जंगल को काटकर यूक्लपटस या अन्य वृक्ष लगाये जाये तो हाथियो का खतरा कम या समाप्त हो सकता है।

—डा० विजयश र

* * *

कांगड़ी ग्राम समाचार

२५-७-१९८१

२५ जुलाई १९८१ को कांगड़ी ग्राम में बड़ी धूमधाम एवं विशाल जन समूह के बीच विश्वविद्यालय के अदम्य उत्साही एवं प्रगतिशील कुलपति श्री गोवर्धन बलभद्र कुमार हूजा जी आई० ए० एस० (अवकाशप्राप्त) ने 'कांगड़ी ग्राम विकास योजना वि०वि०' के शुभारम्भ की घोषणा की। मुरादाबाद मण्डल के आयुक्त श्री अरविन्द वर्मा आइ० ए० एस० ने योजना का उद्घाटन करते हुए अत्यन्त हर्ष अनुभव किया कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने यह कार्य अपने हाथों में लिया है। इसके लिये उन्होंने श्री कुलपति जी को हार्दिक बधाई दी। सरकारी सहायता का आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा कि वह इस पवित्र भूमि में आकर, जहां ७९ वर्ष पूर्व स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की नींव रखी थी, अपने को धन्य समझते हैं। इस अवसर पर उन्होंने मुख्य सड़क से कांगड़ी ग्राम तक बनी सड़क का, ग्राम में हरिजन पेय-जल कूप एवं रेशा तथा टोकरी उद्योगों का उद्घाटन किया। श्री वर्मा ने यह आशा प्रकट की कि यह ग्राम एक आदर्श ग्राम बनेगा।

श्री मनीष भण्डारी आइ० ए० एस० जिलाधिकारी बिजनौर ने जिन्होंने विकास योजना में असाधारण एवं सक्रिय रुचि ली है, इस अवसर पर बोलते हुए कहा कि ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुछ लघु उद्योग चालू किये जा रहे हैं। योजना की सफलता की कामना करते हुए श्री भण्डारी ने इस बात पर बल दिया कि यह सफलता तभी मिल सकती है जब वि०वि० ग्रामनिवासी एवं सरकारी कर्मचारी एकजुट होकर इस दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहें।

जिला विकास अधिकारी श्री श्यामलाल रोड़ एवं खण्ड विकास अधिकारी नजीबाबाद श्री धर्मपाल राव ने रात दिन लगकर जिस तत्परता एवं लगन के साथ मुख्य सड़क से कांगड़ी ग्राम तक ३ दिन में लिंक रोड बनवा दी वह उनकी कार्यकुशलता एवं योजना के प्रति उनके लगाव का सूचक है। उनकी यह प्राप्ति अन्य जिलों के प्रसार एवं विकास विभाग के अधिकारियों के लिए एक उदाहरण बन गयी है। योजना निदेशक डा० विजयशंकर अध्यक्ष वनस्पति विज्ञान विभाग गु० कां० विश्वविद्यालय ने इस अवसर पर बोलते हुए ग्रामीणों की अनेक समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया जैसे बाढ़ एवं हाथियों द्वारा होने

वाली हानि, शिक्षा एवं बिजली की व्यवस्था न होना आदि। ग्रामों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए निदेशक महोदय ने औषधीय वनस्पतियों का एकत्रण एवं खेती, पशुपालन, कुकुरमुत्ता की खेती, रेशम कीट उद्योग आदि चालू करने की सिफारिश की। इस अवसर पर डा० विजयशंकर ने योजना-रिपोर्ट की एक प्रति श्रीमान आयुक्त महोदय मुरादाबाद मण्डल को भेंट की।

२५ जुलाई के कार्यक्रम का संयोजन गु०का० विश्व० के सहायक मुख्याधिष्ठाता श्री जितेन्द्र जी ने अत्यन्त परिश्रम एवं सफलतापूर्वक किया। उन्होंने यह विश्वास दिलाया कि गुरुकुल एवं आर्य समाज स्वामी श्रद्धानन्द जी के इस ग्राम को आदर्श ग्राम बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखेंगे। सरकार ने ग्राम सुधार की दिशा में जो पग उठाये हैं उसकी उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की। उत्सव के प्रबन्ध में विश्वविद्यालय के कृषिसलाहकार श्री के०पी० गुप्ता, प्राच.र्य, प्रसार प्रशिक्षण केन्द्र श्री ए०के० माथुर एवं श्री विक्रम सिंह ने सराहनीय योगदान दिया।

ग्रामवासियों ने आयुक्त महोदय का अभिनन्दन करते हुए अपने ग्राम की समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया। इस अवसर पर निकटवर्ती ग्राम गाजीवाली, श्यामपुर, दुधियालवाला, सजनपुर, पीली आदि के प्रधान एवं निवासी भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

विश्वविद्यालय के परिवारों की व ग्राम की महिलाओं ने मिलकर वृक्षों की पौध लगाई। ग्राम की संगीत मण्डली ने श्री जयप्रकाश के नेतृत्व में मातृभूमि एवं वृक्षारोपण गान हारमोनियम पर सुमधुर लय में प्रस्तुत किये।

श्री गोवर्धन बलभद्र कुमार हूजा कुलपति गु० का० विश्व०ने, जिन्होंने इस योजना का सूत्रपात किया और जिनका सबन्ध कांगड़ी ग्राम एवं विश्वविद्यालय से उनके पिता जी श्री गोवर्धन जो के द्वारा जो स्वामीश्रद्धानन्दजी के समय में गुरुकुल के विद्यालय के मुख्याध्यापक थे, बहुत पुराना है, यह आशा एवं विश्वास व्यक्त किया कि विश्वविद्यालय एवं सरकार के प्रयत्नोंसे इस विश्वविख्यात कांगड़ी ग्राम को जिसने स्वामी जी के समय में देश विदेश में ज्ञान का प्रकाश फैलाया, अब निरक्षरता, गरीबी, बेरोजगारी एवं पिछड़ेपन के गर्त से निकालकर एक आदर्श ग्राम बनाया जायगा, जहाँ हर प्रकार की सुख सुविधा उपलब्ध होगी।

९-८-१९८१

९ अगस्त १९८१ को श्री वीरेन्द्र भूतपूर्व अध्यक्ष अखिल भारतीय समाचार पत्र सम्पादक मण्डल एवं आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान जो विश्वविद्यालय के कुलाधिपति है के कुलपति एवं सिंडीकेट के सदस्यों के साथ कांगड़ी ग्राम पधारे जहां ग्रामवासियों ने उनका भव्य स्वागत किया। इस अवसर पर आप लोगों ने ग्राम में आम के पौधे लगाये। सहायक मुख्याधिष्ठाता



कागड़ी ग्राम में कुलपति श्री जी० वी० के० हूजा
२५ जुलाई १९८१ को गुलमोहर का पौधा लगाते हुए।
दाये : श्री धर्मपाल हीरा कुलसचिव।
बाये : डा० विजयशंकर अध्यक्ष वनस्पति
विज्ञान - विभाग एव निदेशक
कांगड़ी ग्राम सुधार योजना।

श्री जितेन्द्र जी ने बताया कि ग्रामवासियों की कुछ मांगे पूरी हो गई हैं और अन्य के बारे में प्रयास जारी है। कुलाधिपति जी ने ग्रामवासियों के आर्थिक स्तर को उठाने के लिए अनेक सुझाव दिये और उन्हें हिम्मत के साथ आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा दी। श्री [illegible] ने बताया कि ५७ वर्ष पूर्व जब वह कांगड़ी में गुरुकुल में पढ़ते थे तो पहली बार यहां उन्हें [illegible] मिला था जो तब [illegible] के नाम से जाना जाता था। ग्राम की प्रगति के लिए किये जाने वाले प्रयासों की उन्होंने सराहना की। श्री के० पी० गुप्ता ने [illegible] के बारे में बताया। डा० [illegible] योगी फार्मेसी ने ग्रामवासियों को सस्ते [illegible] की औषधियां उपलब्ध कराने का आश्वासन दिया। डा० विजय शंकर ने ग्राम में औषधीय वनस्पतियों के एकत्रण एवं उनकी खेती पर बल दिया और आशा प्रकट की कि इससे न केवल ग्रामवासियों को आर्थिक लाभ होगा बल्कि देश की औषधीय सम्पत्ति [illegible] में भी वृद्धि होगी। श्री वीरेन्द्र जी [illegible] कांगड़ी ग्राम की ओर [illegible] किया है। कांगड़ी को आदर्श ग्राम बनाने के लिए उन्होंने एक फण्ड स्थापित करने की योजना बनाई है। उनका विचार है कि यह ग्राम एक सुन्दर पर्यटक स्थल भी बन सकता है। कुलपति श्री [illegible] जी ने इस फण्ड में १०१ रु० देकर फण्ड का शुभारम्भ किया।

[illegible] गु०का० विश्वविद्यालय [illegible] उन्होंने तथा श्री [illegible] का पौधा लगाया। ग्राम के [illegible] सभा में बोलते हुए उन्होंने अपने पुराने दिनों की याद की जब वह ग्राम में स्थित गु० का० विश्वविद्यालय में विद्यार्थी थे। ग्राम के विकास पर उन्होंने अत्यन्त हर्ष प्रकट किया।

—विजयशंकर



गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में वृक्षारोपण

दिनाक २६ जुलाई १९८१ को विश्वविद्यालय मे वृक्षारोपण एव मिलन दिवस समारोह बडी धूम-धाम से मनाये गये समारोह का उद्घाटन मेरठ मण्डल के आयुक्त श्री आर डी. सोकर ने गुलमोहर का पौधा लगाकर किया । इस अवसर पर १५०० विभिन्न प्रकार के पौधे परिसर मे लगाये गये । सहारनपुर के जिलाधीश श्री के एन सिह, कुलपति श्री जी. बी के हूजा, पूर्व कुलपति श्री आचार्य प्रियव्रत ने भी इस अवसर पर वृक्षारोपण किया । कुलसचिव श्री धर्मपाल हीरा, वित्त धिकारी श्री वी एम. थापर, कृषि सलाहकर श्री के. पी गुप्ता, सहायक मुख्याधिष्ठाता श्री जितेन्द्र, उपकुलसचिव श्री ज सिह सेंगर, श्री वीरेन्द्र, प्रिन्सिपल सुरेशचन्द्र त्यागी, प्रो. सदाशिव भगत एव समस्त कर्मचारियो ने समारोह को सफल बनाने मे सराहनीय योगदान दिया । समारोह के सयोजक डा विजय शकर थे ।



वृक्षारोपण का उद्घाटन
श्री आर. डी. सोकर आयुक्त मेरठ मण्डल
ने गुलमोहर का पौधा लगा कर किया
पास मे
श्री वी. एम. थापर वित्ताधिकारी
खड़े है ।



सहारनपुर के जिलाधीश श्री के० एन० सिह गुलमोहर का पौधा लगाते हुए । उनके दाये ड' विजयशकर और बाये श्री धर्मपाल हीरा कुल-सचिव है । पीछे दाये से श्री वी एम. थापर वित्ताधिकारी, डा सुरेशचन्द्र शास्त्री प्रिन्सिपल राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय ।



विश-विद्यालय के कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र जी परिसर मे केसिया का पौधा लगाने के बाद पानी देते हुए ।

दाये से : श्री के पी गुप्ता कृषि सलाहकार, कैप्टन वीरेन्द्र, श्री श्रीशचन्द्र, डा गगाराम उपकुलपति, डा विजयशकर निदेशक वन-महोत्सव याजना, डा हरिदत्त, श्री सोमनाथ मारवाह, श्री सरदारी लाल एव श्री धर्मपाल हीरा कुलसचिव ।



कुलपति श्री जी. बी. के हूजा परिसर मे रबड़ का पौधा लगाते हुए ।

दाय से : श्री धर्मपाल हीरा कुलसचिव, डा विजयशकर, श्री जितेन्द्र सहायक मुख्याधिष्ठाता, श्री जी. बी के हूजा कुलपति, श्री वी. एम. थापर वित्ताधिकारी, श्री राम, श्री रामनरेश, श्र विक्रमसिह । पीछे बाये से : श्री शिवचरण, श्री रामसुमद श्री श्रीशच न्द्र ।

विरासत, जीन और भविष्य

हमने अपनी शक्ल-सूरत, शरीर की बनावट, मानसिक गुण, आदि अपने माता-पिता (जनक) से विरासत में प्राप्त किये हैं।

अनेक वैज्ञानिकों ने कई वर्षों तक अनुसंधान करके यह पता लगाया है कि हमें अपने जनकों से विरासत के रूप में जो (भौतिक) वस्तु मिलती है वह क्रोमोसोम है—२३ पिता से और २३ माता से। इन क्रोमोसोमों में जीन होते है। विरासत इन जीनों में ही निहित होती है। हमें अपने माता-पिता की शक्ल-सूरत, सूझ-बूझ आदि इन जीनों के द्वारा ही प्राप्त होती है। इन्हीं के कारण हम अपने माता-पिता; दादा-दादी नाना-नानी से मिलते-जुलते लगते हैं। यदि इन जीन और उनके विभिन्न संयोजनों के स्वरूप को बदल दिया जाये तो एकदम नये एवं मनोवांछित गुणों से युक्त जीव पैदा करना सम्भव हो सकेगा।

पोलबर्ग, वाल्टर गिल्बर्ट एवं फ्रेडरिक सेंगर ने नई तकनीकों का आविष्कार करके ऐसे जीनों के निर्माण की सम्भावना को जन्म दे दिया है जो प्राकृतिक रूप में नहीं पाये जाते।

फलस्वरूप ऐसे जीवों का निर्माण करना सम्भावना की परिधि में आ गया है जो प्रकृति में नहीं पाये जाते। मनुष्य एवं अन्य जीवों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये जा सकते हैं। इस विषय को लेकर भविष्य के बारे में अनेक सम्भावनायें, कल्पनायें जन्म ले रही है। इनमें से कुछ पद्यबद्ध रचनाये नीचे प्रस्तुत है:—

आज और कल—

(१)

जीन' बदले तो जीव बदलेंगे
रंग निखरेंगे, रूप संवरेगा।
शक्ल बदलेगी, नस्ल बदलेगी
अक्ल सुधरेगी, नक्श उभरेंगे।

(२)

आज जो जिन्दगी जमी पर है
उसकी हर बात कल को बदलेगी।
यह मुनस्सिर है अक्ल पर उनकी[2]
जीव सुधरेंगे या कि बिगड़ेंगे।

(३)

आज कागज को हज्म करती है गाय
कल से कागज को हम पचायेंगे।
जीन[1] की बात ही बस जीन बदल डालेंगे
कौन सी बात है जो बर्ग[3] कर न डालेंगे।

(४)

आज जुगनू से निकलता है प्रकाश
कल से हम तुम भी रोशनी देंगे।
अब तो गिरगिट ही बदलते है रंग
कल क्या फारिग भी रंग बदलेंगे।

—फ़ारिग

• • •

---

१. जीन— जीवों में विरासत के वाहक।

२. उनकी— वैज्ञानिकों की।

३. बर्ग— पाल बर्ग, एक वैज्ञानिक जिन्हे जीन के सम्बन्ध में किये गये शोध कार्य पर १९८१ में नोबेल प्राइज मिला।

उतरना चाँद पर गरुड़ का

" कुमार हिन्दी "

गरुड : अभी हम काफी दूरी पर हैं।

पृथिवी : हाँ चलते जाइये। विद्युत अवरोहण जारी रखिये।

गरुड : रेडर ताला बन्द है—ऊचाई रोशनी गुल······ पृथिवी सामने की खिडकी से दिख रही है।

गरुड : १२०२, १२०२, ।

नियामक : रेडर सूचना ठीक। ऊचाई अब ३३,५०० फीट।

गरुड : हमें १२०२ प्रोग्राम अलार्म पर' रीडिंग दीजिये।

पृथिवी : राजर ! हम उस अलार्म पर है।

नियामक : ऊचाई अब २१,००० फीट। सबकुछ बिल्कुल ठीक, गति १,२०० फीट प्रति सैकन्ड।

पृथिवी : गरुड़ तुम बहुत सुन्दर लग रहे हो।

गरुड . धन्यवाद, राजर।

पृथिवी : गरुड तुम बहुत सुन्दर लग रहे हो—बस ६ मिनट बाकी।

नियामक : अब हम पहुँच की रेखा पर आ गये। सब ठीक है। ऊंचाई ५,२०० फीट ।

गरुड़ : स्वचालित ऊंचाई कन्ट्रोल यन्त्र ठीक है।

नियामक : ऊचाई ४,२००।

पृथिवी : अब आप उतरने वाले है। अस्तु

गरुड : राजर, ठीक है, हम उतरने वाले है। ३,००० फीट।

गरुड़ : १२ अलार्म। १२०१।

पृथिवी : राजर १२०१ अलार्म।

गरुड़ : लो हम उतरे देखते रहना। हम उतरे २००० फीट ४७ डिग्री।

पृथिवी : गरुड बहुत सुन्दर लग रहा है। बस उतरे।

नियामक : ऊंचाई १,६०० ········ ······ ·· १,४०० फीट।

गरुड : ३६ डिग्री। ३५ डिग्री। ७५० उतर रहे है, २३ पर ७०० फीट, २१ नीचे। ३३ डिग्री। ६०० फीट नीचे, १६ पर ····· ·····५४० फीट ·· ····· ४००··········३५० फीट नीचे ३॥·········प्रति मिनट। वह लो साया नजर आया, ऊचाई गति रोशनी। नीचे २२० फीट। १३ आगे ठीक उतर रहे है। ७५ फीट। सब ठीक है।

पृथिवी : ३० सैकन्ड।

गरुड़ : और दाये खिसके। हल्का सम्पर्क। ठीक है। इंजन बन्द।

पृथिवी : हम तुम्हारी नकल कर रहे हैं, गरुड़।

गरुड : यह प्रशान्त आस्थान है। गरुड़ उतर गया।

पृथिवी : राजर, प्रशान्त हम पृथिवी पर तुम्हारी नकल कर रहे हैं। कुछ चेहरे फीके पड रहे हैं। अब हमे दम आया। अन्तिम धन्यवाद ॥

(श्रीष पुष्प से साभार

in a certain jauntiness of tone that roused the fighting troops to fury against the writer. Through his despatches there ran a brisk implication that regimental officers and men enjoyed nothing better than 'going over the top'; that a battle was just a rough, jovial picnic; that a fight never went on long enough for the men; that their only fear was lest the war should end on this side of the Rhine. This, the men reflected in helpless anger, was what people at home were offered as faithful accounts of what their friends in the field were thinking and suffering.

Most of the men had, all their lives, been accepting 'what it says 'ere in the paper' as being presumptively true. They had taken the Press at its word without checking. Bets had been settled by reference to a paper. Now, in the biggest event of their lives, hundreds of thousands of men were able to check for themselves the truth of that workaday Bible. They fought in a battle or raid, and two days after they read, with jeers on their lips, the account of 'the show' in the papers. They felt they had found the Press out. The most bloody defeat in the history of Britain, a very world's wonder of valour frustrated by feckless misuse, of regimental glory and Staff shame, might occur on the Ancre on July 1, 1916, and our Press come out bland and copious and graphic, with nothing to show that we had not had quite a good day—a victory really. Men who had lived through the massacre read the stuff open-mouthed. Anything, then, could figure as anything else in the Press—as its own opposite even. Black was only an aspect of white. With a grin at the way he must have been taken in up to now, the fighting soldier gave the Press up. So it comes that each of several million ex-soldiers now reads every solemn appeal of a Government, each beautiful speech of a Premier or earnest assurance of a body of employers with that maxim on guard in his mind—'You can't believe a word you read.'

Chapter VIII

THE DUTY OF LYING

(1)

To fool the other side has always been fair in a game. Every fencer or boxer may feint. A Rugby football player 'gives the dummy' without any shame. In cricket a bowler is justly valued the more for masking his action.

In war your licence to lead the other fellow astray is yet more ample. For war, though it may be good sport to some men, is not a mere sport. In sport you are not 'out to win' except on certain terms of courtesy and handsomeness. Who would take pride in a race won by a fluke? At Henley, a long time ago, there were five or six scullers in for the Diamonds. One of them, L——, was known to be far the best man in the race. In the first heat he was drawn against A——, of Oxford, about the best of the others. L—— had one fault—a blind eye; and it often made him steer a bad course. Before the two had raced for fifty yards L—— blundered out of his course, crashed into A——, and capsized him. The rules of boat-racing are clear: L—— had done for himself. A——, who was now swimming, had only to look up to the umpire's launch and hold up a hand. A nod would have been the reply, and the heat would have been A——'s, and the final heat, in all likelihood, too. A—— looked well away from the umpire and kept his hands down, got back into his boat and said to his contrite opponent, 'Start again here, sir?' A—— was decisively beaten, and never came so near to winning the Diamonds again.

Of course he was right, the race being sport. He had 'loved the game beyond the prize'; he had, like Cyrano, *emporté son panache;* he had seen that in sport the thing to strive for is prowess itself, and not its metallic symbol. But the prize of victory in war is no symbol; it is the thing itself, the real end and aim of all that you do and endure. If A—— had been sculling not for a piece of silversmith's work but for the righting of a wronged nation or for the reassertion of public right throughout

Europe, not only would he have been morally free to take a lucky fluke when he got it: he would not have been morally free to reject it. In war you have to 'play to win'—words of sinister import in sport. Pot-hunting, unhonoured in sport, is a duty in war, where the pot is, perhaps, the chance of a free life for your children.

Hence your immemorial right to fall on your enemy where he is weak, to start before he is ready, to push him out of the course, to jockey him on the rails, to use against him all three of Bacon's recipes for deceiving. A good spy will lie to the last, and in war a prisoner may lie like a saint and hero. With unmistakable glee the Old Testament tells us of Gideon's excellent practical fib with the crockery and trumpets. Even the Wooden Horse of the Greeks has long ceased to raise moral questions. The pious Aeneas, certainly, called it a foul. But what did he do himself, when he got a good opening? Went, as the Irish say, beyond the beyonds and fought in an enemy uniform. Ruses of war and war lies are as ancient as war itself, and as respectable. The most innocent animals use them; they shammed dead in battle long before Falstaff.

The only new thing about deception in war is modern man's more perfect means for its practice. The thing has become, in his hand, a trumpet more efficacious than Gideon's own. When Sinon set out to palm off on the Trojans the false news of a Greek total withdrawal, that first of Intelligence officers made a venture like that of early man, with his flint-headed arrow, accosting a lion. Sinon's pathetic little armament of yarns, to be slung at his proper peril, was frailer than David's five stones from the brook. Modern man is far better off. To match the Lewis gun with which he now fires his solids, he has to his hand the newspaper Press, a weapon which fires as fast as the Lewis itself, and is almost as easy to load whenever he needs, in his wars, to let fly at the enemy's head the thing which is not.

He has this happiness, too: however often he fires, he can, in a sense, never miss. He knows that while he is trying to feed the enemy with whatever it may be bad for him to read the enemy will be trying just as hard to leave no word of it unread. As busily as your enemy's telescopes will be conning your lines in the field, his Intelligence will be scrutinizing whatever is said in

your Press, worrying out what it means and which of the things that it seems to let out are the traps and which are the real, the luminous, priceless slips made in unwariness. What the Sphinx was to her *clientèle*, what the sky is to mountain-climbers and sailors, your Press is to him: an endless riddle, to be interrogated and interpreted for dear life. His wits have to be at work on it always. Like a starved rat in a house where rat-poison is laid, he can afford neither to nibble a crumb that has got the virus on it, nor yet to leave uneaten any clean crumb that has fallen accidentally from a table. Do not thrilling possibilities open before you?

What cannot you and I perform upon
The unguarded Duncan? What not put upon
His spongy officers?

—that is, if Duncan be really unguarded enough to 'ravin down his proper bane,' like a dutiful rat, and his officers spongy enough to sop up, according to plan, the medicated stuff that you give them.

(II)

It is the common habit of nations at war to ascribe to the other side all the cunning, as if the possession of a Ulysses were some sort of discredit. Happily for us our chosen Ulysses in France, at the most critical time, was of the first order. But no soldier can go far ahead of his time; he has to work in it and with it. And so the rich new mine of Intelligence work through the Press was not worked by either side, in the Great War, for all it was worth. Only a few trial borings were made; experimental shafts were sunk into the seam, and good, promising stuff was brought to the top.

Here are a couple of samples. Some readers of popular science, as it is called, may have been shocked to see in a technical journal, rather late in the war, a recklessly full description of our 'listening sets'—the apparatus by which an enemy telephone message is overheard in the field. 'Why,' they must have thought, 'this is giving away one of our subtlest devices for finding out what the enemy is about. The journal ought to be prosecuted.' The article

had really come from G.H.Q. It was the last thrust in a long duel.

When the war opened the Germans had good apparatus for telephonic eavesdropping. We had, as usual, nothing to speak of. The most distinctly traceable result was the annihilation of our first attack at Ovillers, near Albert, early in July 1916. At the instant fixed for the attack our front at the spot was smothered under a bombardment which left us with no men to make it. A few days after, when we took Ovillers, we found the piece of paper on which the man with the German 'listening set' had put down, word for word, our orders for the first assault. Then we got to work. We drew our own telephones back, and we perfected our own 'listening sets' till the enemy drew back his, further and further, giving up more and more of ease and rapidity of communication in order to be safe. At last a point was reached at which he had backed right out of hearing. All hope of pushing him back further still, by proving in practice that we could still overhear, was now gone. All that was left to do was to add the effects of a final bluff to the previous effects of the real strength of our hand. And so there slipped into a rather out-of-the-way English journal the indiscretion by which the reach of our electric ears was, to say the least of it, not understated. Few people in England might notice the article. The enemy could be trusted to do so.

When the Flanders battle of July 31, 1917, was about to be fought, we employed the old ruse of the Chinese attack. We modernized the trick of mediæval garrisons which would make a show of getting ready to break out at one gate when a real sally was to be made from another. The enemy was invited to think that a big attack was at hand. But against Lens, and not east of Ypres. Due circumstantial evidence was provided. There were audible signs that a great concentration of British guns were cautiously registering, west of Lens. A little scuffle on that part of the front elicited from our side an amazing bombardment—apparently loosed in a moment of panic. I fancy a British Staff Officer's body—to judge by his brassard and tabs—may have floated down the Scarpe into the German lines. Interpreted with German thoroughness, the maps and papers upon it might easily betray the fact that Lens was the objective. And then a really

inexcusable indiscretion appeared—just for a moment, and then was hushed up—in the London Press. To an acute German eye it must have been obvious that this composition was just the inconsequent gassing of some typically stupid English General at home on leave; he was clearly throwing his weight about, as they say, without any real understanding of anything. The stuff was of no serious value, except for one parenthetic, accidental allusion to Lens as the mark. As far as I know, this ebullition of babble was printed in only one small edition of one London paper. Authority was then seen to be nervously trying, as Uncle Toby advised, 'to wipe it up and say no more about it.' Lest it should not be observed to have taken this wise precaution some fussy member of Parliament may have asked in the House of Commons how so outrageous a breach of soldierly reticence had occurred. And was there no control over the Press? It all answered. The Germans kept their guns in force at Lens, and their counter barrage east of Ypres was so much the lighter, and our losses so much the less.

(III)

If we did these things in the green leaf, what might we not do in the dry? Mobilize our whole Press, conscribe it for active service under a single control, a—let us be frank—a Father-General of Lies, the unshaming strategic and tactical lies of 'the great wars' which 'make ambition virtue,' and sometimes make mendacity a virtue too? Coach the whole multitudinous orchestra of the Press to carry out the vast conceptions of some consummate conductor, *splendide mendax*? From each instrument under his baton this artist would draw its utmost contributive aid to immense schemes of concerted delusiveness, the harping of the sirens elaborated into Wagnerian prodigies of volume and complexity.

As you gaze from the top of a tree or a tower behind your own front, in a modern war, all the landscape beyond it looks as if man had perished from the earth, leaving his works behind him. It all looks strangely vacant and dead, the roofs of farms and the spires of churches serving only to deepen your sense of this blank deletion of man, as the Roman arches enhance the vacuous stillness of the Campagna. Your Intelligence Corps has to convert this

first impression, this empty page, into a picture, built up line by line, dot by dot, of the universe of activities that are going on out there. Its first and easiest task is to mark out correctly the place where every enemy unit is, each division, each battery, each railhead, aerodrome, field hospital and dump. Next it has to mark each movement of each of these, the shiftings of the various centres of gravity, the changes in the relative density and relative quality of troops and guns at various sectors, the increase, at any sector, of field hospitals, the surest harbingers of heavy attacks. The trains on all lines must be counted, their loads calculated. Next must be known in what sort of spirits the enemy is, in the field and also at home. Do the men believe in their officers? Do the men get confident letters from their civilian friends? Do they send cheerful ones back? Is desertion rare and much abhorred? Or so common that men are no longer shot for it now? So you may go on enumerating until it strikes you that you are simply drifting into an inventory of all the details of the enemy's war-time life, in the field and at home. And then you understand.

For what you want to know, in order to beat him, is no less than this—to see him steadily and see him whole. In the past we have talked of information 'of military value' as distinct from other information. But all information about either side is of military value to the other. News of the outbreak or settlement of a strike in a Welsh coalfield was of military value to Ludendorff. News of the day's weather in Central Europe was of military value to Sir Douglas Haig. News of anything that expressed in any degree the temper of London or Berlin, of Munich or Manchester, helped to eke out that accurate vision of an enemy's body and mind which is the basis of success in combat. A black dot, of the size of a pin-head, may seem, when looked at alone, to give no secret away. But when the same dot is seen, no longer in isolation, but as part of a pen-and-ink drawing, perhaps it may leap into vital prominence, showing now as the pupil of the eye that completes a whole portrait, gives its expression to a face and identifies a sitter. Throughout the Great War our own Press and that of the Germans were each pouring out, for the undesigned benefit of their enemy, substantially correct descriptions of everything in the war life of their respective nations, except a few formal military and naval secrets specially reserved by

the censors. Each nation fought, on the whole, with the other standing well out in the light with no inscrutability about its countenance. If we were ever again in such risk of our national life, would we not seriously try to make ourselves an enigma? Or would we leave this, as we have left some other refinements of war, to the other side to introduce first?

(IV)

Suppose us again at war with a Power less strong at sea than ourselves. If we should want its fleet to come out and fight in the open, why not evoke, some fine morning, from every voice in our daily press, a sudden and seemingly irrepressible cry of grief and rage over the unconcealable news—the Censor might be defied by the way—that our Grand Fleet, while ranging the seas, had struck a whole school of drift mines and lost half its numbers? Strategic camouflage, however, would go far beyond such special means to special ends as that. It would, as a regular thing, derange the whole landscape presented to enemy eyes by our Press. There was in the war a French aerodrome across which the French camouflage painters had simply painted a great white high-road: it ran across hangars, huts, turf, everything; and everything was amazingly obliterated by it. Across our real life, as seen under the noon-day rays of publicity in ordinary times, the supreme controller might draw some such enormous lines of falsification.

Most of the fibs that we used in the war were mere nothings, and clumsy at that. When the enemy raided our trenches in the dead winter season, took fifty prisoners, and did as he liked for a while—so much as he liked that a court of inquiry was afterwards held and a colonel deprived of his command—we said in our official *communiqué* that a hostile raiding party had 'entered our trenches' but was 'speedily driven out, leaving a number of dead.' When civilian *moral* at home was going through one of its occasional depressions, we gave out that it was higher than ever. We did not officially summon from the vast deep the myth about Russian soldiers in England. But when it arose out of nothing we did make some use of it. These were, however, little more than bare admissions of the principle that truthfulness in war is not

imperative. Falsification was tried, but it was not 'tried out.' Like really long-range guns, the kindred of 'Bertha,' it came into use only enough to suggest what another world-war might be. *Vidimus tantum.* And then the war ended.

Under a perfected propaganda system the whole surface presented by a country's Press to the enemy's Intelligence would be a kind of painted canvas. The artist would not merely be reticent about the positions, say, of our great training camps. He would create, by indirect evidence, great dummy training camps. In the field we had plenty of dummy aerodromes, with hangars complete and a few dummy machines sprawling outside, to draw enemy bomb-fire. At home we would have dummy Salisbury Plains to which a guarded allusion would peep out here and there while the new unity of command over the Press would delete the minutest clue to the realities. Episodes like that of the famous Lansdowne letter would not be left for nature to bungle. If at any time such an episode seemed likely to touch any diplomatic spring with good strategic effect, it would happen at that moment and no other. Otherwise it would not happen, so far as any trace of it in the Press could betray. By-elections, again, their course and result, may tell an enemy much of what your people are thinking. But, for military purposes, there is always some particular thing which you want him to believe them to be thinking. So you would not leave it to the capricious chances of an actual election to settle whether he should be led to believe this or not. You would see to it. Just as you camouflage your real guns and expose dummy guns, so you would obliterate from the Press all trace of your real elections and offer to view, at the times that best suited, dummy elections, *ad hoc* elections, complete in all their parts.

We have imagined a case in which it would be our interest to raise false confidence in the enemy, perhaps to draw a hurried attack on our shores at a time of our own choosing. Then, if the whole of our Press is held in our hand like a fiddle, ready to take and give out any tune, what should prevent us from letting fall, in sudden distress, a hundred doleful, forced admissions that the strain has proved too great, the smash has come, the head of the State is in hiding from his troops, the Premier in flight, naval officers hanging from modern equivalents to the yard-arm,

Ministers and Commanders-in-Chief shaking their fists in one another's faces? Or take the opposite case, that you mean to attack in force, in the field. Here you would add to the preliminary bombardment of your guns such a bombardment of assertion and insinuation, not disprovable before 'zero' hour, as has never yet been essayed; plausible proofs from neutral quarters that the enemy's troops are being betrayed by their politicians behind, that typhus has broken out among the men's homes, that their children are dying like flies, and some of the mothers, insane with famine and grief, are eating the dead in hope of nursing the living. Oh, you could say a great deal.

And you could deliver your messages, too. The enemy's command might try to keep the contents of your Press from reaching his troops. But, thanks to the aeroplane, you can circularize the enemy's troops almost as easily as traders can canvass custom at home. You can flood his front line with leaflets, speeches, promises, rumours, and caricatures. You can megaphone to it. Only in recent years has human ingenuity thought of converting the older and tamer form of political strife into the pandemonic 'stunt' of a 'whirlwind election.' Shall war not have her whirlwind canvasses no less renowned than those of peace? Some rather shamefaced passages of love there have been between us and the Rumour of Shakespeare, the person 'painted full of tongues,' who 'stuffs the ears of men with false reports,' to the advantage of her wooers. Why not espouse the good lady right out? Make an honest woman of her?

(V)

Perhaps you would shrink back. Perhaps at any rate you do so now, when for the moment this great implement is not being offered to you, to take or leave, at an instant crisis of your country's fate. You feel that even in such a case you would stand loftily aloof in your cold purity? You would disclaim as a low, unknightly business the uttering of such base coinage as cooked news, whatever your proud chastity may cost anyone else? Or arrive, perhaps, at the same result by a different route, and make out to yourself that really it pays, in the end, to be decent; that clean chivalry is a good investment at bottom, and that a nation

of Galahads and Bayards is sure to come out on top, on the canny reckoning that the body housing a pure heart has got the strength of ten? That is one possible course. And the other is to accept, with all that it implies, the doctrine that there is one morality for peace and another morality for war; that just as in war you may with the clearest conscience stab a man in the back, or kick him in the bowels, in spite of all the sportsmanship you learnt at school, so you may stainlessly carry deception to lengths which in peace would get you blackballed at a club and cut by your friends.

It may be too much to hope that, whichever of these two paths we may choose, we shall tread it with a will. We have failed so much in the way of what Germany used to call 'halfness,' the fault of Macbeth, the wish to hunt with the hounds while we run with the hare, that it would be strange if we did not still try to play Bayard and Ulysses as one man and succeed in combining the shortcomings of an inefficient serpent with those of a sophisticated dove. If we really went the whole serpent the first day of any new war would see a wide, opaque veil of false news drawn over the whole face of our country. Authority playing on all the keys, white and black, of the Press as upon one piano, would give the listening enemy the queerest of Ariel's tunes to follow. All that we did, all that we thought, would be bafflingly falsified. The whole landscape of life in this island, as it reflects itself in the waters of the Press, would come out suddenly altered as far past recognition as that physical landscape amid which it is passed has been changed by a million years of sunshine, rain, and frost. The whole sky would be darkened with flights of strategic and tactical lies so dense that the enemy would fight in a veritable 'fog of war' darker than London's own November brews, and the world would feel that not only the Angel of Death was abroad, but the Angel of Delusion too, and would almost hear the beating of two pairs of wings.

(VI)

Well—and then? Any weapon you use in a war leaves some bill to be settled in peace, and the Propaganda arm has its cost like another. To say so is not to say, without more ado, that it should not be used. Its cost should be duly cast up, like our other

accounts; that is all. We all agree—with a certain demur from the Quakers—that one morality has to be practised in peace and another in war; that the same bodily act may be wrong in the one and right in the other. So, to be perfect, you need to have two gears to your morals, and drive on the one gear in war and on the other in peace. While you are on the peace gear you must not even shoot a bird sitting. At the last stroke of some August midnight you clap on the war gear and thenceforth you may shoot a man sitting or sleeping or any way you can get him, provided you and he be soldiers on opposite sides.

Now, in a well-made car, in the prime of its life, there is nothing to keep you from passing straight and conclusively from one gear to another. The change once made, the new gear continues in force and does not wobble back fitfully and incalculably into the old. But in matters of conduct you cannot, somehow, drive long on one gear without letting the other become noticeably rusty, stiff, and disinclined to act. It was found in the Great War that after a long period of peace and general saturation with peace morals it took some time to release the average English youth from his indurated distaste for stabbing men in the bowels. Conversely it has been found of late, in Ireland and elsewhere, that, after some years of effort to get our youth off the no-homicide gear, they cannot all be got quickly back to it either, some of them still being prone to kill, as the French say, *paisiblement,* with a lightness of heart that embarrasses statesmen.

We must, to be on the conservative side, assume that the same phenomenon would attend a post-war effort to bring back to the truth gear of peace a Press that we had driven for some years on the war gear of untruthfulness. Indeed, we are not wholly left to assumption and speculation. During the war the art of Propaganda was little more than born. The various inspired articles-with-a-purpose, military or political, hardly went beyond the *vagitus,* the earliest cry of the new-born method, as yet

An infant crying in the night,
And with no language but a cry.

Yet for more than three years since the Armistice our rulers have continued to issue to the Press, at our cost as Blue Books and White Papers, long passages of argument and suggestion almost

fantastically different from the dry and dignified official publications of the pre-war days. English people used to feel a sovereign contempt for the 'semi-official' journalism of Germany and Russia. But the war has left us with a Press at any rate intermittently inspired. What would be left by a war in which Propaganda had come of age and the State had used the Press, as camouflaging material, for all it was worth?

It used at one time to be a great joke—and a source of gain sometimes—among little boys to take it as a benign moral law that so long as you said a thing 'over the left,' it did not matter whether it was true or not. If, to gain your private ends, or to make a fool of somebody else, you wanted to utter a fib, all that you had to do was to append to it these three incantatory words, under your breath, or indeed without any sound or move of your lips at all, but just to yourself in the sessions of sweet silent thought. Then you were blameless. You had cut yourself free, under the rules, from the vulgar morality. War confers on those who wage it much the same self-dispensing power. They can absolve themselves of a good many sins. Persuade yourself that you are at war with somebody else and you find your moral liberty expanding almost faster than you can use it. An Irishman in a fury with England says to himself 'State of war—that's what it is,' and then finds he can go out and shoot a passing policeman from behind a hedge without the discomfort of feeling base. The policeman's comrades say to themselves 'State of war—that's what it has come to,' and go out and burn some other Irishman's shop without a sense of doing anything wrong, either. They all do it 'over the left.' They have stolen the key of the magical garden wherein you may do things that are elsewhere most wicked and yet enjoy the mental peace of the soldier which passeth all understanding.

To kill and to burn may be sore temptations at times, but not so besetting to most men as the temptation to lie is to public speakers and writers. Another frequent temptation of theirs is to live in a world of stale figures of speech, of flags nailed to the mast, of standing to one's guns, of deaths in last ditches, of quarter neither asked nor given. It is their hobby to figure their own secure, squabblesome lives in images taken from war. And their little excesses, their breaches of manners, and even, some-

times, of actual law, are excused, as a rule, in terms of virile disdain for anything less drastic and stern than the morals of the real warfare which they know so little. We have to think in what state we might leave these weak brethren after a long war in which we had practised them hard in lying for the public good and also in telling themselves it was all right because of the existence of a state of war. State of war! Why, that is what every excitable politician or journalist declares to exist all the time. To the wild party man the party which he hates is always 'more deadly than any foreign enemy.' All of us could mention a few politicians, at least, to whom the Great War was merely a passing incident or momentary interruption of the more burningly authentic wars of Irish Orange and Green, or of English Labour and Capital.

(VII)

Under the new dispensation we should have to appoint on the declaration of war, if we had not done it already, a large Staff Department of Press Camouflage. Everything is done best by those who have practised it longest. The best inventors and disseminators of what was untrue in our hour of need would be those who had made its manufacture and sale their trade in our hours of ease. The most disreputable of successful journalists and 'publicity experts' would naturally man the upper grades of the war staff. The reputable journalists would labour under them, trying their best to conform, as you say in drill, to the movements of the front rank. For in this new warfare the journalist untruthful from previous habit and training would have just that advantage over the journalist of character which the Regular soldier had over the New Army officer or man in the old. He would be, as Mr Kipling sings,

A man that's too good to be lost you,
A man that is 'andled and made,
A man that will pay what 'e cost you
In learnin' the others their trade.

After the war was over he would return to his trade with an immense accession of credit. He would have been decorated and publicly praised and thanked. Having a readier pen than the mere

combatant soldiers, he would probably write a book to explain that the country had really been saved by himself, though the fighting men were, no doubt, gallant fellows. He would, in all likelihood, have completed the disengagement of his mind from the idea that public opinion is a thing to be dealt with by argument and persuasion, appeals to reason and conscience. He would feel surer than ever that men's and women's minds are most strongly moved not by the leading articles of a paper but by its news, by what they may be led to accept as 'the facts.' So the practice of colouring news, of ordering reporters to take care that they see only such facts as tell in one way, would leap forward. For it would have the potent support of a new moral complacency. When a man feels that his tampering with truth has saved civilization, why should he deny himself, in his private business, the benefit of such moral reflections as this feeling may suggest?

Scott gives, in *Woodstock*, an engaging picture of the man who has 'attained the pitch of believing himself above ordinances.' The independent trooper, Tomkins, finds his own favourite vices fitting delightfully into an exalted theory of moral freedom. In former days, he avows, he had been only 'the most wild, malignant rakehell in Oxfordshire.' Now he is a saint, and can say to the girl whom he wants to debauch:

> Stand up, foolish maiden, and listen; and know, in one word, that sin, for which the spirit of man is punished with the vengeance of heaven, lieth not in the corporal act, but in the thought of the sinner. Believe, lovely Phoebe, that to the pure all acts are pure, and that sin is in our thought, not in our actions, even as the radiance of the day is dark to a blind man but seen and enjoyed by him whose eyes receive it. To him who is but a novice in the things of the spirit much is enjoined, much is prohibited; and he is fed with milk fit for babes—for him are ordinances, prohibitions, and commands. But the saint is above all these ordinances and restraints. To him, as to the chosen child of the house, is given the pass-key to open all locks which withhold him from the enjoyment of his heart's desire. Into such pleasant paths will I guide thee, lovely Phoebe, as shall unite in joy, in innocent freedom, pleasures which, to the unprivileged, are sinful and prohibited.

So when a journalist with no strong original predisposition to swear to his own hurt shall have gained high public distinction by his fertility in falsehoods for consumption by an enemy in the field, the fishes that tipple in the deep may well 'know no such liberty' as this expert in fiction will allow himself when restored to his own more intoxicating element.

The general addition of prestige to the controversial device of giving false impressions and raising false issues would naturally be immense. To argue any case merely on its merits and on the facts would seem to the admirers of the new way a kind of virtuous imbecility. In what great industrial dispute or political campaign, in what struggle between great financial interests would both sides, or either, forego the use of munitions so formidable? Such conflicts might almost wholly cease to be competitions in serious argument at all; they might become merely trials of skill in fantastic false pretences, and of expertness in the morbid psychology of credulity.

So men argued, surmised and predicted, talking and talking away in the endless hours that war gives for talking things out. When first they began to ask each other why so many lies were about, the common hypothesis, based on prior experience, was that they must be meant to save some 'dud,' up above, from losing his job. Then they came to admit there was something more in it than that. Lies had a good enough use for fooling the Germans. A beastly expedient, no doubt; acquiescence in lying does not come quite so easily to a workman of good character as it does to men of a class in which more numerous formal fibs are kept in use as social conveniences. Still, the men were not cranks enough to object. 'They love not poison that do poison need.' The men had hated, and still continued to hate, the use of poison gas, too. It was a scrub's trick, like vitriol-throwing. But who could have done without it, when once the Germans began? And now who could object to the use of this printed gas either? Could they, in this new warfare of propaganda, expect their country to go into action armed in a white robe of candour, and nothing besides, like a maskless man going forth to war against a host assisted by phosgene and all her foul sisters?

It was a clear enough case: decency had to go under. But it was hard luck not to be able to know where you were. Where

were they? If all the news they could check was mixed with lies, what about all the rest, which they were unable to check? Was it likely to be any truer? Why, we might be losing the war all the time, everywhere! Who could believe now what was said about our catching the submarines? Or about India's being all right? And how far would you have to go to get outside the lie belt? Could our case for going to war with the Germans be partly lies too? Beastly idea!

How would it be, again, when we came to play these major tricks which the men were already discussing as likely to come into use? Suppose it became part of our game to publish, for some good strategical reason, news of a naval or military disaster to ourselves, the same not having happened? To take in the enemy this lie would have to take in our own people too; the ruse would be given away if the Government tried to tip so much as a wink to the British reader of the British Press. So men's friends at home would have the agonies of false alarms added to their normal war-time miseries, and wives might be widowed twice and mothers of one son made childless more than once before the truth finally overshadowed their lives.

And then, your war won, there would be that new lie-infested and infected world of peace. In one of his great passages Thucydides tells us what happened to Greece after some years of war and of the necessary war morality. He says that, as far as veracity, public and private, goes, the peace gear was found to have got wholly out of working order and could not be brought back into use. 'The meaning of words had no longer the same relation to things, but was changed by men as they thought proper.' The pre-war hobby of being straight and not telling people lies went clean out of fashion. Anyone who could bring off a good stroke of deceit, to the injury of some one whom he disliked, 'congratulated himself on having taken the safer course, over-reached his enemy, and gained the prize of superior talent.' A man who did not care to use so sound a means to his ends was thought to be a goody-goody ass. War worked in that way on the soul of Greece, in days when war was still confined, in the main, to the relatively cleanly practice of hitting your enemy over the head, wherever you could find him. The philosophers in our dug-outs preserved moderation when they expected as ugly a sequel for

war in our age, when the chivalrous school seems to have pretty well worked itself out and the most promising lines of advance are poison gas and canards. But the survivors among them are not detached philosophers only. They act in the new world that they foresaw, and the man whose word you could trust like your own eyes and ears, eight years ago, has come back with the thought in his mind that so many comrades of his have expressed: 'They tell me we've pulled through at last all right because our propergander dished out better lies than what the Germans did. So I say to myself "If tellin' lies is all that bloody good in war, what bloody good is tellin' truth in peace?"'

Chapter IX

AUTUMN COMES

(1)

IN the autumn of 1917 the war entered into an autumn, or late middle-age, of its own. 'Your young men,' we are told, 'shall see visions, and your old men shall dream dreams.' The same with whole armies. But middle-aged armies or men may not have the mists of either morning or evening to charm them. So they may feel like Corot, when he had painted away, in a trance of delight, till the last vapour of dawn was dried up by the sun; then he said, 'You can see everything now. Nothing is left,' and knocked off work for the day. There was no knocking off for the army. But that feeling had come. A high time was over, a great light was out; our eyes had lost the use of something, either an odd penetration that they had for a while, or else an odd web that had been woven across them, shutting only ugliness out.

The feeling was apt to come on pretty strong if you lived at the time on the top of the little hill of Cassel, west of Ypres. The Second Army's Headquarters were there. You might, as some Staff duty blew you about the war zone, be watching at day-break one of that autumn's many dour bouts of attrition under the Passchendale Ridge, in the mud, and come back, the same afternoon, to sit in an ancient garden hung on the slope of the hill, where a great many pears were yellowing on the wall and sunflowers gazing fixedly into the sun that was now failing them. All the corn of French Flanders lay cut on the brown plain under your eyes, from Dunkirk, with its shimmering dunes and the glare on the sea, to the forested hills north of Arras. Everywhere lustre, reverie, stillness; the sinking hum of old bees, successful in life and now rather tired; the many windmills fallen motionless, the aureate light musing over the aureate harvest; out in the east the broken white stalks of Poperinghe's towers pensive in haze; and, behind and about you, the tiny hill city, itself in its distant youth the namegiver and prize of three mighty battles that do

not matter much now. All these images or seats of outlived ardour, mellowed now with the acquiescence of time in the slowing down of some passionate stir in the sap of a plant or the spirit of insects or men, joined to work on you quietly. There, where the earth and the year were taking so calmly the end of all the grand racket that they had made in their prime, why not come off the high horse that we, too, in that ingenuous season, had ridden so hard? It was not now as it had been of yore. And why pretend that it was?

(II)

One leaf that had gone pretty yellow by now was the hope of perfect victory—swift, unsoured, unruinous, knightly: St George's over the dragon, David's over Goliath. Some people at home seem to be still clinging hard to that first pretty vision of us as a gifted, lithe, wise little Jack fighting down an unwieldy, dastardly giant. But troops in the field become realists. Ours had seen their side visibly swelling for more than two years, till Jack had become a heavier weight than the giant and yet could not finish him off. We knew that our allies and we outnumbered the Germans and theirs. We knew we were just as well armed. We had seen Germans advancing under our fire and made no mistake about what they were worth. Our first vision of victory had gone the way of its frail sister dream of a perfect Allied comradeship. French soldiers sneered at British now, and British at French. Both had the same derisive note in the voice when they named the 'Brav' Belges.' Canadians and Australians had almost ceased to take the pains to break it to us gently that they were the 'storm troops,' the men who had to be sent for to do the tough jobs; that, out of all us sorry home troops, only the Guards Division, two kilted divisions and three English ones could be said to know how to fight. 'The English let us down again'; 'The Tommies gave us a bad flank, as usual'—these were the stirring things you would hear if you called upon an Australian division a few hours after a battle in which the lion had fought by the side of his whelps. Chilly, autumnal things; while you listened, the war was apparelled no longer in the celestial light of its spring.

An old Regular colonel, a man who had done all his work upon

the Staff, said, at the time, that 'the war was settling down to peace conditions.' He meant no bitter epigram. He was indeed unfeignedly glad. The war was ceasing to be, like a fire or shipwreck, a leveller of ranks which, he felt, ought not to be levelled. Those whom God had put asunder it was less recklessly joining together. The first wild generosities were cooling off. Not many peers and heirs-apparent to great wealth were becoming hospital orderlies now. Since the first earthquake and tidal wave the disturbed social waters had pretty well found their old seemly levels again; under conscription the sons of the poor were now making privates; the sons of the well-to-do were making officers; sanity was returning. The Regular had faced and disarmed the invading hordes of 1914. No small feat of audacity, either. Think what the shock must have been—what it would be for any profession, just at the golden prime of rich opportunity and searching test, to be overrun of a sudden by hosts of keen amateurs, many of them quick-witted, possibly critical, some of them the best brains of the country, most of them vulgarly void of the old professional habits of mind, almost indecently ready to use new and outlandish means to the new ends of to-day.

But now the stir and the peril were over. The Old Army had won. It had scarcely surrendered a single strong point or good billet; Territorials and New Army toiled at the coolie jobs of its household. It had not even been forced, like kings in times of revolution, to make apparent concessions, to water down the pure milk of the word. It had become only the more intensely itself; never in any war had commands been retained so triumphantly in the hands of the cavalry and the Guards, the leaders and symbols of the Old Army resistance to every inroad of mere professional ardour and knowledge and strong, eager brains. When Sir Francis Lloyd relinquished the London Distict Command a highly composite mess in France discussed possible successors. 'Of course,' said a Guards colonel gravely—and he was a guest in the mess—'the first point is—he *must* be a Guardsman.' Peace conditions returning, you see; the peace frame of mind; the higher commands restored to their ancient status as property, 'livings,' perquisites, the bread of the children, not to be given to dogs. At home, too, peace conditions were taking heart to return. The scattered coveys of profiteers and job-hunters, al-

most alarmed by the first shots of the war, had long since met in security; 'depredations as usual' was the word; and the mutual scalping and knifing of politicians had ceased to be shamefaced; who could fairly expect an old Regular Army to practise a more austere virtue than merchant princes and statesmen?

(III)

Even in trenches and near them, where most of the health was, time had begun to embrown the verdant soul of the army. 'Kitchener's Army' was changing. Like every volunteer army, his had sifted itself, at its birth, with the only sieve that will riddle out, even roughly, the best men to be near in a fight. Till the first of the pressed men arrived at our front, a sergeant there, when he posted a sentry and left him alone in the dark, could feel about as complete a moral certitude as there is on the earth that the post would not be let down. For, whatever might happen, nothing inside the man could start whispering to him 'You never asked to be here; if you do fail, it isn't your doing.'

Nine out of ten of the conscripts were equally sound. For they would have been volunteers if they could. The tenth was the problem; the more so because there was nothing to tell you which was the tenth and which were the nine. For all that you knew, any man who came out on a draft, from then on, might be the exception, the literal-minded Christian who thought it wicked to kill in a war; or an anti-nationalist zealot who thought us all equally fools, the Germans and us, to be out there pasturing lice, instead of busy at home taking the hide off the *bourgeois*; or one of those drift wisps of loveless critical mind, attached to no place or people more than another, and just as likely as not to think that the war was our fault and that we ought to be beaten. *Riant avenir!* as a French sergeant said when, in an hour of ease, we were talking over the nature of man, and he told me, in illustration of its diversity, how a section of his had just been enriched with a draft of neurasthenic burglars.

These vulgar considerations of military expediency never seemed to cross the outer rim of the consciousness of many worthies who were engaged at home in shooing the reluctant into the army. If a recalcitrant seemed to be lazy, spiritless, nerveless,

if there was every sign of his making a specially worthless and troublesome consumer of rations in a trench, then a burning zeal to inflict this nuisance and danger on some unoffending platoon in France seemed to invade the ordinary military tribunal. Report said that the satisfaction of this impulse was called, by the possessed persons, 'giving Haig the men,' and sometimes, with a more pungent irony, 'supporting our fellows in the trenches.' *Non tali auxilio nec defensoribus istis.* Australia's fellows in the trenches were suffered to vote themselves out of the risk of getting any support of the kind. Australia is a democracy. Ours were not asked whether they wanted to see their trenches employed as a penal settlement to which middle-aged moralists in England might deport, among other persons, those whom they felt to be morally the least beautiful of their juniors. So nothing impeded the pious practice of 'larning toads to be toads.' For the shirker, the 'kicker,' the 'lawyer,' for all the types of undesirables that contribute most liberally to the wrinkled appearance of sergeants, those pious men had the nose of collectors. Wherever there was a spare fifty yards of British front to be held, they, if anyone, could find a man likely to go to sleep there on guard, or, in some cyclonic disturbance of spirit, to throw down his rifle and light out for the coast, across country.

Such episodes were reasonably few. The inveterate mercy that guards drunken sailors preserved from the worst disaster the cranks who had made a virtue of giving their country every bad soldier they could. And the abounding mercy of most courts-martial rendered few of the episodes fatal to individual conscripts. Nor, indeed, was the growth in their frequency after conscription wholly due to the more fantastic tricks played before high Heaven by some of the Falstaffs who dealt with the Mouldies, Shadows and Bull-calves. Conscription, in any case, must be dilution. You may get your water more quickly by throwing the filter away, but don't hope to keep the quality what it was. And the finer a New Army unit had been, to begin with, the swifter the autumnal change. Every first-rate battalion fighting in France or Belgium lost its whole original numbers over and over again. First, because in action it spared itself less than the poor ones; secondly, because the best divisions rightly got the hard jobs. Going out in the late autumn of 1915, a good battalion with

normal luck might have nearly half its original volunteer strength left after the Battle of the Somme. Drafts of conscripts would fill up the gap, each draft with a listless or enigmatic one-tenth that volunteering had formerly kept at a distance. The Battle of Arras next spring might leave only twenty per cent of the first volunteers, and the autumn battles in Flanders would pretty well finish their business. Seasons returned, but not to that battalion returned the spirit of delight in which it had first learnt to soldier together and set foot together in France and first marched through darkness and ruined villages towards the flaring fair-ground of the front. While a New Army battalion was still very young, and fully convinced that no crowd of men so good to be with had ever been brought together before, it used to be always saying how it would keep things up after the war. No such genial reunions had ever been held as these were to be. But now the few odd men that are left only write to each other at long intervals, feeling almost as if they were raising their voices in an empty church. One of them asks another has he any idea what the battalion was like after Oppy, or Bourlon Wood, or wherever their own knock-out came. Like any other battalion, no doubt—a mere G.C.M. of all conscript battalions; conscription filed down all special features and characters.

Quick waste and renewal are said to be good for the body; the faster you burn up old tissues, by good sweaty work, the better your health; fresh and superior tissue is added unto you all the more merrily. Capital, too, the economists say, must be swiftly used up and reborn, over and over again, to do the most good that it can. And then there is the case of the phœnix—in fact, of all the birds and all the beasts too, for all evolution would seem to be just the dying of something worse, as fast as it can, in order that something better may live in its place. No need for delay in turning your anthropoid apes into Shakespeares and Newtons.

But what if you found, after all your hard work, that not all the deceased cells of your flesh were replaced by new cells of the sort you would like? If some of your good golden pounds should have perished only that inconvertible paper might live? If out of your phœnix's ashes only a commonplace rooster should spring? If evolution were guyed and bedevilled into retrovolution, a process by which the fittest must more and more dwindle

away and the less fit survive them, and species be not multiplied but made fewer? Something, perhaps, of the sort may go on in the body in its old age, or in roses in autumn. It must go on in a volunteer army when it is becoming an army of conscripts during a war that is highly lethal.

(IV)

The fall of the leaf had brought, too, a sad shortage of heroes—of highly-placed ones, for, of course, every company had its own, authenticated beyond any proof that crosses or medals could give. A few very old Regular privates would say, 'Ah! if we had Buller here!' Sir Redvers Buller has always remained, in lofty disregard of conclusive disproof, the Cæsar or Hannibal of the old Regular private, who sets little store by such heroes of Whitehall and Fleet Street as Roberts and Kitchener. But the chiefs of to-day left men cold, at the best. The name of at least one was a by-word. Haig was a name and no more, though a name immune in a mysterious degree from the general scoffing surmise about the demerits of higher commands. Few subalterns or men had seen him. No one knew what he was doing or leaving undone. But some power, not ourselves, making for charity, seemed to recommend him to mercy in everyone's judgement; as if, from wherever he was, nameless waves of some sort rippled out through an uncharted ether, conveying some virtue exhaled by that winning incarnation of honour, courage, and kindness who, seen and heard in the flesh, made you wish to find in him all other excellent qualities too. The front line gave him all the benefit of every doubt. God only knew, it said, whether he or somebody else would have to answer for Bullecourt and Serre. It might not be he who had left the door lying open, unentered, for two nights and days, when the lions had won the battle of Arras that spring, and the asses had let the victory slip till the Germans crept back in the dark to the fields east of Vimy from which they had fled in despair. But slowness to judge can hardly be called hero-worship; at most, a somewhat sere October phase of that vernal religion.

One of the heavenly things on which the New Army had almost counted, in its green faith, was that our higher commands

would have genius. Of course, we had no right to do it. No X has any right to ask of Y that Y shall be Alexander the Great or Bach or Rembrandt or Garrick, or any kind of demonic first-rater. As reasonably send precepts to the Leviathan to come ashore. Yet we had indulged that insane expectation, just as we had taken it for granted that this time the nation would be as one man, and nobody 'out to do a bit for himself on the quiet.' And now behold the falling leaf and no Leviathan coming ashore in response to our May-Day desires.

Certainly other things, highly respectable, came. The Second Army Staff's direction of that autumn's almost continuous battles was of a competence passing all British precedents. Leap-frogging waves of assault, box barrages, creeping barrages, actions, interactions, and counter-actions were timed and concerted as no Staff of ours had done it before. The intricate dance which has to go on behind a crowded battle front, so that columns moving east and west and columns moving north and south shall not coincide at cross roads, was danced with the circumstantial precision of the best ballets. An officer cast away somewhere in charge of a wayside smithy for patching up chipped guns felt that there was a power perched on the top of the hill at Cassel which smelt out a bit of good work, or of bad, wherever anyone did it. Sense, keenness, sympathy, resolution, exactness—all the good things abode in that eyrie which have to be in attendance before genius can bring off its marvels; every chamber swept and garnished, and yet—.

Foch tells us what he thinks Napoleon might have said to the Allied commands if he could have risen in our black times from the dead. 'What cards you people have!' he would have said, 'And how little you do with them! Look!' And then, Foch thinks, within a month or two he 'would have rearranged everything, gone about it all in some new way, thrown out the enemy's plans and quite crushed him.' That 'some new way' was not fated to come. The spark refused to fall, the divine accident would not happen. How could it? you ask with some reason. Had not trench warfare reached an impasse? Yes; there is always an impasse before genius shows a way through. Music on keyboards had reached an impasse before a person of genius thought of using his thumb as well as his fingers. Well, that was an obvious dodge, you

may say, but in Flanders what way through could there have been? The dodge found by genius is always an obvious dodge, afterwards. Till it is found it can as little be stated by us common people as can the words of the poems that Keats might have written if he had lived longer. You would have to become a Keats to do that, and a Napoleon to say how Napoleon would have got through to Bruges in the autumn that seemed so autumnal to us. All that the army knew, as it decreased in the mud, was that no such uncovenanted mercy came to transmute its casualties into the swiftly and richly fruitful ones of a Napoleon, the incidental expenses of some miraculous draught of victory.

Nothing to grouse at in that. The winds of inspiration have to blow the best way they can. Prospero himself could not raise them; how could the likes of us hope to? And yet there had been that illogical hope, almost reliance—part of the high unreason of faith that could move mountains in 1914 and seems to be scarcely able to shift an ant-hill to-day.

Chapter X

AUTUMN TINTS IN CHIVALRY

(I)

In either of two opposite tempers you may carry on war. In one of the two you will want to rate your enemy, all round, as high as you can. You may pursue him down a trench, or he you; but in neither case do you care to have him described by somebody far, far away as a fat little short-sighted scrub. Better let him pass for a paladin. This may at bottom be vanity, sentimentality, all sorts of contemptible things. Let him who knows the heart of man be dogmatic about it. Anyhow, this temper comes, as they would say in Ireland, of decent people. It spoke in Porsena of Clusium's whimsical prayer that Horatius might swim the Tiber safely; it animates Velasquez' knightly *Surrender of Breda;* it prompted Lord Roberts's first words to Cronje when Paardeberg fell—'Sir, you have made a very gallant defence'; it is avowed in a popular descant of Newbolt's—

To honour, while you strike him down,
The foe who comes with eager eyes.

The other temper has its niche in letters, too. There was the man that 'wore his dagger in his mouth.' And there was Little Flanigan, the bailiff's man in Goldsmith's play. During one of our old wars with France he was always 'damning the French, the parle-vous, and all that belonged to them.' 'What,' he would ask the company, 'makes the bread rising? The parle-vous that devour us. What makes the mutton fivepence a pound? The parle-vous that eat it up. What makes the beer threepence-halfpenny a pot?'

Well, your first aim in war is to hit your enemy hard, and the question may well be quite open—in which of these tempers can he be hit hardest? If, as we hear, a man's strength be 'as the strength of ten because his heart is pure,' possibly it may add a few foot-pounds to his momentum in an attack if he has kept a

clean tongue in his head. And yet the production of heavy woollens in the West Riding, for War Office use, may, for all that we know, have been accelerated by yarns about crucified Canadians and naked bodies of women found in German trenches. There is always so much, so bewilderingly much, to be said on both sides. All I can tell is that during the war the Newbolt spirit seemed on the whole, to have its chief seat in and near our front line, and thence to die down westward all the way to London. There Little Flanigan was enthroned, and, like Montrose, would bear no rival near his throne, so that a man on leave from our trench system stood in some danger of being regarded as little better than one of the wicked. Anyhow, he was a kind of provincial. Not his will, but that of Flanigan, had to be done. For Flanigan was at the centre of things; he had leisure, or else volubility was his trade; and he had got hold of the megaphones.

(II)

In the first months of the war there was any amount of good sportsmanship going; most, of course, among men who had seen already the whites of enemy eyes. I remember the potent emetic effect of Flaniganism upon a little blond Regular subaltern maimed at the first battle of Ypres. 'Pretty measly sample of the sin against the Holy Ghost!' the one-legged child grunted savagely, showing a London paper's comic sketch of a corpulent German running away. The first words I ever heard uttered in palliation of German misdoings in Belgium came from a Regular N.C.O., a Dragoon Guards sergeant, holding forth to a sergeants' mess behind our line. 'We'd have done every damn thing they did,' he averred, 'if it had been we.' I thought him rather extravagant, then. Later on, when the long row of hut hospitals, jammed between the Calais-Paris Railway at Etaples and the great reinforcement camp on the sand-hills above it, was badly bombed from the air, even the wrath of the R.A.M.C. against those who had wedged in its wounded and nurses between two staple targets scarcely exceeded that of our Royal Air Force against war correspondents who said the enemy must have done it on purpose.

Airmen, no doubt, or some of them, went to much greater lengths in the chivalrous line than the rest of us. Many things helped them to do it. Combatant flying was still new enough to be almost wholly an officer's job; the knight took the knocks, and the squire stayed behind and looked after his gear. Air-fighting came to be pretty well the old duel, or else the mediæval mêlée between little picked teams. The clean element, too, may have counted—it always looked a clean job from below, where your airy notions got mixed with trench mud, while the airman seemed like Sylvia in the song, who so excelled 'each mortal thing upon the dull earth dwelling.' Whatever the cause, he excelled in his bearing towards enemies, dead or alive. The funeral that he gave to Richthofen in France was one of the few handsome gestures exchanged in the war. And whenever Little Flanigan at home began squealing aloud that we ought to take some of our airmen off fighting and make them bomb German women and children instead, our airmen's scorn for these ethics of the dirt helped to keep up the flickering hope that the post-war world might not be ignoble.

Even on the dull earth it takes time and pains to get a clean-run boy or young man into a mean frame of mind. A fine N.C.O. of the Grenadier Guards was killed near Laventie—no one knows how—while going over to shake hands with the Germans on Christmas morning. 'What! not shake on Christmas Day?' He would have thought it poor, sulky fighting. Near Armentières at the Christmas of 1914 an incident happened which seemed quite the natural thing to most soldiers then. On Christmas Eve the Germans lit up their front line with Chinese lanterns. Two British officers thereupon walked some way across No Man's Land, hailed the enemy's sentries, and asked for an officer. The German sentries said, 'Go back, or we shall have to shoot.' The Englishmen said 'Not likely!' advanced to the German wire, and asked again for an officer. The sentries held their fire and sent for an officer. With him the Englishmen made a one-day truce, and on Christmas Day the two sides exchanged cigarettes and played football together. The English intended the truce to end with the day, as agreed, but decided not to shoot next day till the enemy did. Next morning the Germans were still to be seen washing and breakfasting outside their wire; so our men,

too, got out of the trench and sat about in the open. One of them, cleaning his rifle, loosed a shot by accident, and an English subaltern went to tell the Germans it had not been fired to kill. The ones he spoke to understood, but as he was walking back a German somewhere wide on a flank fired and hit him in the knee, and he has walked lame ever since. Our men took it that some German sentry had misunderstood our fluke shot. They did not impute dishonour. The air in such places was strangely clean in those distant days. During one of the very few months of open warfare a cavalry private of ours brought in a captive, a gorgeous specimen of the terrific Prussian Uhlan of tradition. 'But why didn't you put your sword through him?' an officer asked, who belonged to the school of Froissart less obviously than the private. 'Well, sir,' the captor replied, 'the gentleman wasn't looking.'

(III)

At no seat of war will you find it quite easy to live up to Flanigan's standards of hatred towards an enemy. Reaching a front, you find that all you want is just to win the war. Soon you are so taken up with the pursuit of this aim that you are always forgetting to burn with the gem-like flame of pure fury that fires the lion-hearted publicist at home.

A soldier might have had the Athanasian ecstasy all right till he reached the firing line. Every individual German had sunk the *Lusitania;* there was none righteous, none. And yet at a front the holy passion began to ooze out at the ends of his fingers. The bottom trouble is that you cannot fight a man in the physical way without somehow touching him. The relation of actual combatants is a personal one—no doubt, a rude, primitive one, but still quite advanced as compared with that between a learned man at Berlin who keeps on saying *Delenda est Britannia!* at the top of his voice and a learned man in London who keeps on saying that every German must have a black heart because Cæsar did not conquer Germany as he did Gaul and Britain. Just let the round head of a German appear for a passing second, at long intervals, above a hummock of clay in the middle distance. Before you had made half a dozen sincere efforts to shoot him the fatal germ

of human relationship had begun to find a nidus again: he had acquired in your mind the rudiments of a personal individuality. You would go on trying to shoot him with zest—indeed, with a diminished likelihood of missing, for mere hatred is a flustering emotion. And yet the hatred business had started crumbling. There had begun the insidious change that was to send you home, on your first leave, talking unguardedly of 'old Fritz' or of 'the good old Boche' to the pain of your friends, as if he were a stout dog fox or a real stag of a hare.

The deadliest solvent of your exalted hatreds is laughter. And you can never wholly suppress laughter between two crowds of millions of men standing within earshot of each other along a line of hundreds of miles. There was, in the Loos salient in 1916, a German who, after his meals, would halloo across to an English unit taunts about certain accidents of its birth. None of his British hearers could help laughing at his mistakes, his knowledge, and his English. Nor could the least humorous priest of ill-will have kept his countenance at a relief when the enemy shouted: 'We know you are relieving,' 'No good hiding it,' 'Good-bye, Ox and Bucks,' 'Who's coming in?' and some humorist in the obscure English battalion relieving shouted back, with a terrific assumption of accent, 'Furrst Black Watch!' or 'Th' Oirish Gyards!' and a hush fell at the sound of these great names. Comedy, expelled with a fork by the dignified figure of Quenchless Hate, had begun to steal back of herself.

At home that tragedy queen might do very well; she did not have these tenpenny nails scattered about on her road to puncture the nobly inflated tyres of her chariot. The heroes who spoke up for shooing all the old German governesses into the barbed wire compounds were not exposed to the moral danger of actually hustling, *propria persona*, these formidable ancients. But while Hamilcar at home was swearing Hannibal and all the other little Hamilcars to undying hatred of the foe, an enemy dog might be trotting across to the British front line to sample its rats, and its owner be losing in some British company's eyes his proper quality as an incarnation of all the Satanism of Potsdam and becoming simply 'him that lost the dog.'

If you took his trench it might be no better; perhaps Incarnate Evil had left its bit of food half-cooked, and the muddy straw,

where it lay last, was pressed into a hollow by Incarnate Evil's back as by a cat's. Incarnate Evil should not do these things that other people in trenches do. It ought to be more strange and beastly and keep on making *beaux gestes* with its talons and tail, like the proper dragon slain by St George. Perhaps Incarnate Evil was extinct and you went over its pockets. They never contained the right things—no poison to put in our wells, no practical hints for crucifying Canadians; only the usual stuffing of all soldiers' pockets—photographs and tobacco and bits of string and the wife's letters, all about how tramps were always stealing potatoes out of the garden, and how the baby was worse, and was his leave never coming? No good to look at such things.

(IV)

With this guilty weakness gaining upon them our troops drove the Germans from Albert to Mons. There were scandalous scenes on the way. Imagine two hundred German prisoners grinning inside a wire cage while a little Cockney corporal chaffs them in half the dialects of Germany! His father, he says, was a slop tailor in Whitechapel; most of his journeymen came from somewhere or other in Germany—'Ah! and my dad sweated 'em proper,' he says proudly; so the boy learnt all their kinds of talk. He convulses Bavarians now with his flow of Silesian. He fraternizes grossly and jubilantly. Other British soldiers laugh when one of the Germans sings, in return for favours received, the British ballad 'Knocked 'em in the Ol' Kent Road.' By the time our men had marched to the Rhine there was little hatred left in them. How can you hate the small boy who stands at the farm door visibly torn between dread of the invader and deep delight in all soldiers, as soldiers? How shall a man not offer a drink to the first disbanded German soldier who sits next to him in a public house at Cologne, and try to find out if he was ever in the line at the Brickstacks or near the Big Crater? Why, that might have been his dog!

The billeted soldier's immemorial claim on 'a place by the fire' carried on the fell work. It is hopelessly bad for your grand Byronic hates if you sit through whole winter evenings in the abhorred foe's kitchen and the abhorred foe grants you the

uncovenanted mercy of hot coffee and discusses without rancour the relative daily yields of the British and the German milch cow. And then comes into play the British soldier's incorrigible propensity, wherever he be, to form virtuous attachments. 'Love, unfoiled in the war,' as Sophocles says. The broad road has a terribly easy gradient. When all the great and wise at Paris were making peace, as somebody said, with a vengeance, our command on the Rhine had to send a wire to say that unless something was done to feed the Germans starving in the slums it could not answer for discipline in its army; the men were giving their rations away, and no orders would stop them. Rank 'Pro-Germanism,' you see—the heresy of Edith Cavell; 'Patriotism is not enough; I must have no hatred or bitterness in my heart.' While these men fought on, year after year, they had mostly been growing more void of mere spite all the time, feeling always more and more sure that the average German was just a decent poor devil like everyone else. One trembles to think what the really first-class haters at home would have said of our army if they had known at the time.

(V)

Even at places less distant than home the survival of old English standards of fighting had given some scandal. In that autumn of the war when our generalship seemed to have explored all its own talents and found only the means to stage in an orderly way the greatest possible number of combats of pure attrition, the crying up of unknightliness became a kind of fashion among a good many Staff Officers of the higher grades. 'I fancy our fellows were not taking many prisoners this morning,' a Corps Commander would say with a complacent grin, on the evening after a battle. Jocose stories of comic things said by privates when getting rid of undesired captives became current in messes far in the rear. The other day I saw in a history of one of the most gallant of all British divisions an illustration given by the officer who wrote it of what he believed to be the true martial spirit. It was the case of a wounded Highlander who had received with a bomb a German Red Cross orderly who was coming to help him. A General of some consequence during part of the war

gave a lecture, towards its end, to a body of officers and others on what he called 'the fighting spirit.' He told with enthusiasm an anecdote of a captured trench in which some of our men had been killing off German appellants for quarter. Another German appearing and putting his hands up, one of our men—so the story went—called out, ''Ere! Where's 'Arry? 'E ain't 'ad one yet.' Probably some one had pulled the good general's leg, and the thing never happened. But he believed it, and deeply approved the 'blooding' of 'Arry. That, he explained, was the 'fighting spirit.' Men more versed than he in the actual hand-to-hand business of fighting this war knew that he was mistaken, and that the spirit of trial by combat and that of pork-butchery are distinct. But that is of course. The notable thing was that such things should be said by anyone wearing our uniform. Twenty years before, if it had been rumoured, you would, without waiting, have called the rumour a lie invented by some detractor of England or of her army. Now it passed quite unhissed. It was the latter-day wisdom. Scrofulous minds at home had long been itching, publicly and in print, to bomb German women and children from aeroplanes, and to 'take it out of' German prisoners of war. Now the disease had even affected some parts of the non-combatant Staff of our army.

(VI)

You know the most often quoted of all passages of Burke. Indeed, it is only through quotation of it that most of us know Burke at all—

> But the age of chivalry is gone . . . the unbought grace of life, the cheap defence of nations, the nurse of manly sentiment and heroic enterprise is gone! It is gone, that sensibility of principle, that chastity of honour, which felt a stain like a wound, which inspired courage whilst it mitigated ferocity, which ennobled whatever it touched, and under which vice itself lost half its evil by losing all its grossness.

Burke would never say a thing by halves. And as truth goes by halves, and declines to be sweeping like rhetoric, Burke made sure of being wrong to the tune of some fifty per cent. The French

Revolution did not, as his beautiful language implies, confine mankind for the rest of its days to the procreation of curs. And yet his words do give you, in their own lush, Corinthian way, a notion of something that probably did happen, a certain limited shifting of the centre of gravity of West European morals or manners.

One would be talking like Burke—talking, perhaps you might say, through Burke's hat—if one were to say that the war found chivalry alive and left it dead. Chivalry is about as likely to perish as brown eyes or the moon. Yet something did happen, during the war, to which these wild words would have some sort of relation. We were not all Bayards in 1914; even then a great part of our Press could not tell indignation from spite, nor uphold the best cause in the world without turpitude. Nor were we all, after the Armistice, rods of the houses of Thersites and Cleon; Haig was still alive, and so were Gough and Hamilton and thousands of Arthurian subalterns and privates and of like-minded civilians, though it is harder for a civilian not to lose generosity during a war. But something had happened; the chivalrous temper had had a set-back; it was no longer the mode; the latest wear was a fine robust shabbiness. All through the war there had been a bear movement in Newbolts and Burkes, and, corresponding to this, a bull movement in stocks of the Little Flanigan group.

Chapter XI

STARS IN THEIR COURSES

(1)

'Doth any man doubt,' the wise Bacon asks, 'that if there were taken out of men's minds vain opinions, flattering hopes, false valuations, imaginations as one would, and the like, but it would leave the minds of a number of men poor shrunken things, full of melancholy and indisposition and unpleasing to themselves?' One of the most sweetly flattering hopes that we had in the August of 1914 was that in view of the greatness of the occasion causes were not going to have their effects.

Nothing new, you may truthfully answer, in that. The improvement is one which man, in his cups and his dreams and other seasons of maudlin vision, has always perceived to have just come at last. Now, he exaltedly says to himself, for a clean break with my inadequately wise and brilliant past. Away with that plaguey old list of my things done which should not have been done, and of things left undone which I ought to have done. At the end of popular plays the sympathetic youth who had idled, philandered, or stolen till then would book to the Rand or the Yukon, fully assured that 'in that free, outdoor life' one's character is not one's fate any longer; blessed, 'out there,' are Europe's slackers and wasters, for they shall inherit the earth, or its auriferous parts. Grasshoppers, too, if they drank or resorted to sentimental novels and plays, might have gallant little revolts in their hearts, and chirrup 'Down with causation!' and feel cocksure that some good-natured god would give them a chance of 'redeeming their pasts' quite late in autumn, and put in their way a winter provision far ampler than that which crowns the coolie labours of those sorry daughters of Martha, the bees. But, for working this benign miracle in the soul, no other strong waters can equal the early days of a war. If, with unbecoming sobriety, anyone hints, in such days, that causes may still retain some sort of control, he is easily seen to have no drop of true blood in him;

base is the slave who fears we must reap as we sowed; shame upon spiritless whispers about any connection between the making of beds and the lying thereon; now they shall see what excellent hothouse grapes will be borne by the fine healthy thistles that we have been planting and watering.

Something in it too, perhaps—at least some centuries ago. When a great nation's army was only a few thousands strong the freak and the fluke had their chance. An Achilles or two, at the top of their form on the day, might upset the odds. But when armies are millions of men, and machinery counts for more than the men, the few divine accidents of exceptional valour cannot go far. With eleven a-side a Grace or an Armstrong may win a game off his own bat. He will hardly do that in a game where the sides are eleven thousand apiece. More and more, as the armies increase, must the law of averages have it its own dreary way; glorious uncertainties wither; statistical 'curves' of relative national fitness to win, and to stand the strain of winning or losing, overbear everything else. What are the two armies' and the two nations' relative numbers? What is the mean physique on each side? And the mean intelligence? How far has each nation's history—social, political, religious, industrial—tended to make its men rich in just pride, self-reliance, high spirit, devotion, and hardihood? How many per cent on each side have been sapped by venereal disease? How much of their work have its officers troubled to learn? These are the questions. The more men you have in a war, and the longer it lasts, the more completely has it to lose the romance of a glorious gamble and sink—or, as some would say, rise—to the plane of a circumstantial, matter-of-fact liquidation of whatever relative messes the nations engaged have made of the whole of their previous lives.

(II)

Any soldier will tell you the bayonet does not win battles. It only claims, in a way that a beaten side cannot ignore, a victory won already by gunfire, rifles, gas, bombs, or some combination of these. The bayonet's thrust is more of a gesture: a cogent appeal, like the urgent 'How's that?' from the whole of the field when a batsman is almost certainly out. But you may go much further

back. That predominant fire itself is just such another appeal. Its greater volume and better direction are only the terms of an army's or a nation's claim to be registered as the winner of what it had really won long ago when, compared with the other nation, it minded its job and lived cleanly and sanely. All war on the new huge scale may be seen as a process, very expensive, of registration or verification. Whenever a war is declared you may say that now, in a sense, it is over at last; all the votes have been cast; the examination papers are written; the time has come for the counting of votes and adjudging of marks. Of course, we may still 'do our bit,' but the possible size of our bit had its limit fixed long ago by the acts of ourselves and our fathers and rulers which made us the men that we are and no more. No use now to try to cadge favour with any *ad hoc* God of Battles. For this, of all gods, is the most dourly Protestant. No squaring of him on the deathbeds of people who would not work while it was yet light.

From many points in the field—some of the best were in the tops of high trees on high ground—you could watch through your glass the casting up of accounts. You might survey from beginning to end a British attack up a bare opposite slope, perhaps with home troops on the left and Canadian or Australasian troops on the right. You had already seen them meet on roads in the rear: battalions of colourless, stunted, half-toothless lads from hot, humid Lancashire mills; battalions of slow, staring faces, gargoyles out of the tragical-comical-historical-pastoral edifice of modern English rural life; Dominion battalions of men startlingly taller, stronger, handsomer, prouder, firmer in nerve, better schooled, more boldly interested in life, quicker to take means to an end and to parry and counter any new blow of circumstance, men who had learned already to look at our men with the half-curious, half-pitying look of a higher, happier caste at a lower. And now you saw them, all these kinds, arise in one continuous line out of the earth and walk forward to bear in the riddled flesh and wrung spirit the sins of their several fathers, pastors, and masters.

Time after time there would come to the watching eye, to the mind still desperately hugging the hope that known causes might not bring their normal effects, the same crushing demonstration

that things are as we have made them. Sometimes the line of home troops would break into gaps and bunches, lose touch and direction and common purpose, some of the knots plunging on into the back of our barrage or feasting some enemy machine-gunner on their density, others straggling back to the place whence they had started, while the Dominion troops still ambled steadily on, their line delicately waving but always continuous, closing again, as living flesh closes over a pinprick, wherever an enemy shell tore a hole.

Perhaps the undersized boys from our slums and the under-witted boys from the 'agricultural, residential, and sporting estates' of our auctioneers' advertisements would get to their goal, the spirit wresting prodigies of valour out of the wronged flesh, hold on there for an hour or two with the shells splashing the earth up about them like puddle water when great rain-drops make its surface jump, and then fall back under orders, without any need, the brain of our army failing to know how to use what its muscle had won. Then, while you saw the triumphant Australians throw back a protective flank from the left of their newly-won front to the English right, far in the rear, you knew bitterly what the Australians were saying once more: 'They've let us down again!' 'Another Tommy officer who didn't know he'd won!' As if it were the fault, that day, of anyone there! Our men could only draw on such funds of nerve and physique, knowledge and skill, as we had put into the bank for them. Not they, but their rulers and 'betters,' had lost their heads in the joy of making money fast out of steam, and so made half of our nation slum-dwellers. It was not they who had moulded English rustic life to keep up the complacency of sentimental modern imitators of feudal barons. It was not they who had made our Regular Army neither aristocratic, with the virtues of aristocracy, nor democratic, with the different virtues of democracy, nor keenly professional, with the professional virtues of gusto and curiosity about the possibilities of its work. *Delicta majorum immeritus lues*. Like the syphilitic children of some jolly Victorian rake, they could only bring to this harsh examination such health and sanity as all the pleasant vices of Victorian and Edwardian England had left them.

(III)

The winter after the battle of Loos a sentry on guard at one part of our line could always see the frustrate skeletons of many English dead. They lay outside our wire, picked clean by the rats, so that the khaki fell in on them loosely—little heaps of bone and cloth half hidden now by nettles and grass. If the sentry had been a year in the army he knew well enough that they had gone foredoomed into a battle lost before a shot was fired. After the Boer War, you remember, England, under the first shock of its blunders, had tried to find out why the Staff work was so bad. What it found, in the words of a famous Report, was that the fashion in sentiment in our Regular Army was to think hard work 'bad form'; a subaltern was felt to be a bit of a scrub if he worried too much about discovering how to support an attack when he might be more spiritedly employed in playing polo; 'The nobleness of life,' as Antony said, when he kissed Cleopatra, was to go racing or hunting, not to sit learning how to forecast the course of great battles and how to provide for answering their calls. And so the swathes of little brown bundles, with bones showing through, lay in the nettles and grass.

Consider the course of the life of the British Regular officer as you had known him in youth—not the pick, the saving few, the unconquerably sound and keen, but the average, staple article made by a sleek, complacent, snobbish, safe, wealth-governed England after her own image. Think of his school; of the mystic aureole of quasi-moral beauty attached by authority there to absorption in the easy thing—in play; the almost passionate adoration of all those energies and dexterities which, in this world of evolution towards the primacy of the acute, full brain, are of the least possible use as aids to survival in men and to victory in armies. Before he first left home for school he may have been a normal child who only craved to be given some bit, any odd bit, of 'real work,' as an experience more thrilling than games. Like most children, he may have had a zestful command of fresh, vivid, personal speech, his choice of words expressing simply and gaily the individual working of his mind and his joy in its work. Through easy contact with gardeners, gamekeepers, and village

boys he often had established a quite natural, unconscious friendliness with people of different social grades. He was probably born of the kind that pries young, that ask, when they play on sea sands, why there are tides, and what goes on in the sky that there should be rain. And then down came the shades of the prison-house. To make this large, gay book of fairy tales, the earth, dull and stale to a child importunately fingering at its covers might seem a task to daunt the strongest. But many of the teachers of our youth are indomitable men. They can make earth's most ardent small lover learn from a book what a bore his dear earth can be, with her strings of names of towns, rivers, and lakes, her mileages *à faire mourir*, and her insufferable tale of flax and jute. With an equal firmness your early power of supple and bright-coloured speech may be taken away and a rag-bag of feeble stock phrases, misfits for all your thoughts, and worn dull and dirty by everyone else, be forced upon you instead of the treasure you had. You may leave school unable to tell what stars are about you at night or to ask your way to a journey's end in any country but your own. Between your helpless mind and most of your fellow-countrymen thick screens of divisions are drawn, so that when you are fifteen you do not know how to speak to them with a natural courtesy; you have a vague idea that they will steal your watch if you leave it about. Above all, you have learnt that it is still 'bad form' to work; that the youth with brains and no money may well be despised by the youth with money and no brains; that the absorbed student or artist is ignoble or grotesque; that to be able to afford yourself 'a good time' is a natural title to respect and regard; and that to give yourself any 'good time' that you can is an action of spirit. So it went on at prep. school, public school, Sandhurst, Camberley. That was how Staff College French came to be what it was. And as it was what it was, you can guess what Staff College tactics and strategy were, and why all the little brown bundles lay where they did in the nettles and grass.

(IV)

You are more aware of the stars in war than in peace. A full moon may quite halve the cares of a sentry; the Pole Star will

sometimes be all that a company has, when relieved, to guide it back across country to Paradisiac rest; sleeping often under the sky, you come to find out for yourself what nobody taught you at school—how Orion is sure to be not there in summer, and Aquila always missing in March, and how the Great Bear, that was straight overhead in the April nights, is wont to hang low in the north in the autumn. Childish as it may seem to the wise, a few years' nightly view of these and other invariable arrangements may give a simple soul a surprisingly lively twinge of what the ages of faith seem to have meant by the fear of God—the awesome suspicion that there is some sort of fundamental world order or control which cannot by any means be put off or dodged or bribed to help you to break its own laws. 'Anything,' the old Regular warrant-officers say, 'can be wangled in the army,' but who shall push the Dragon or the Great Dog off his beat? And—who knows?—that may be only a part of a larger system of cause and effect, all of it as hopelessly undodgable.

These apprehensions were particularly apt to arise if you had spent an hour that day in seeing herds of the English 'common people' ushered down narrowing corridors of barbed wire into some gap that had all the German machine guns raking its exit, the nature of Regular officers' pre-war education in England precluding the prompt evolution of any effectual means on our side to derange the working of this ingenious abattoir. We had asked for it all. We had made the directing brains of our armies the poor things that they were. Small blame to them if in this season of liquidation they failed to produce assets which we had never equipped them to earn—mental nimbleness, powers of individual observation, quickness to cap with counter-strokes of invention each new device of the fertile specialists opposite. Being as we had moulded them, they had probably done pretty well in doing no worse.

What's done *we partly may compute,*
But know not what's resisted.

Who shall say what efforts it may have cost some of those poor custom-ridden souls not to veto, for good and all, an engine of war so far from 'smart' as the tank, or to accept any help at all from such folk as the new-fangled, untraditional airmen, some

of whom took no shame to go forth to the fray in pyjamas. Not they alone, but all of ourselves, with our boastful chatter about the 'public school spirit,' our gallant, robust contempt for 'swats' and 'smugs' and all who invented new means to new ends and who trained and used their brains with a will—we had arranged for these easy battues of thousands of Englishmen, who, for their part, did not fail. To-morrow you would see it all again—a few hundred square yards of ground gained by the deaths, perhaps, of twenty thousand men who would

Go to their graves like beds, fight for a plot
Which is not tomb enough and continent
To hide the slain.

So it would go on, week after week, sitting after sitting of the dismal court that liquidated in the Flanders mud our ruling classes' wasted decades, until we either lost the war outright or were saved from utter disaster by clutching at aid from French brains and American numbers. Like Lucifer when he was confronted with the sky at night, you 'looked and sank.'

Around the ancient track marched, rank on rank,
The army of unalterable law.

What had we done, when we could, that the stars in their courses should fight for us now? Or left undone, of all that could provoke this methodical universe of swinging and returning forces to shake off such dust from its constant wheels?

(V)

'I planted a set of blind hopes in their minds,' said Prometheus, making it out to be quite a good turn that he had done to mankind. And the Dr Relling of Ibsen, a kind of Prometheus in general practice, kept at hand a whole medicine-chest of assorted illusions to dope his patients with. 'Illusion, you know,' said this sage, 'is the tonic to give 'em.' It may be. But even illusions cost something. The bill, as Hotspur said of the river Trent, 'comes me cranking in' presently, nature's iron law laying it down that the more superb your state of inflation the deeper shall the dumps occasioned by a puncture be. The Promethean gift of Mr

Dunlop to our race undoubtedly lifted the pastime of cycling out of a somewhat bumpy order of prose into a lyric heaven. And yet the stoutest of all nails could plunge itself into the solid tyre of old without compelling you to walk a foundered Pegasus from the top of the Honister Pass the whole way to Keswick, enjoying *en route* neither the blessing of a bicycle nor that of the unhampered use of Shanks' Mare.

So War, who keeps such a pump to blow you up with, and also such thorns for your puncturing, had to leave us the 'poor shrunken things' that we are, anyhow. It is as if the average man had been passing himself off on himself, in a dream, as the youthful hero of some popular drama, and, in a rousing last act, had departed, in 1914, on excellent terms with himself and the audience, bands playing and flags flying, to start a noble and happy new life on the virgin soil of the 'golden West.' And now he awakes in the 'golden West' on a slobbery and a dirty farm, with all the purchase money still to pay, and tools and manures remarkably dear, and no flag visible, nor instrument of music audible, and dismal reports coming in from neighbouring farmers, and cause and effect as abominably linked one to another as ever, and all the time his mind full of a sour surmise that many sorts of less credulous men have 'made a bit' of inordinate size out of the bit that he did rather than made, during the raging and tearing run of the drama now taken off and, as far as may be, forgotten.

Chapter XII

BELATED BOONS

(I)

There is no one day of which you can say: 'My youth ended then. On the Monday the ball of my vision had eagles that flew unabashed to the sun. On the Tuesday it hadn't.' The season of rapture goes out like a tide that has turned; a time has come when the mud flats are bare; but, long after the ebb has set in, any wave that has taken a special strength of its own from some combination of flukes out at sea may cover them up for a moment —may even throw itself far up the beach, making as if to recapture the lost high-water mark. So the youth of our war had its feints at renewal, hours of Indian summer when there was wine again in the air; in the 'bare, ruined choirs' a lated golden oriole would strike up once more for a while, before leaving.

Because hope does spring eternal the evening before a great battle must always make fires leap up in the mind. The calm before Thermopylæ, the rival camps on the night before Agincourt, the ball before Waterloo—not without reason have writers of genius, searching for glimpses of life in its most fugitive acme of bloom, the poised and just breaking crest of the wave, gone to places and times of the kind. For there the wits and the heart may be really astir and at gaze, and the common man may have, for the hour, the artist's vision of life as an adventure and challenge, lovely, harsh, fleeting, and strange. The great throw, the new age's impending nativity, Fate with her fingers approaching the veil, about to lift—a sense of these things is a drug as strong as strychnine to quicken the failing pulse of the most heart-weary of moribund raptures.

We all had the dope in our wine on the night of August 7, 1918. At daybreak our troops to the east of Amiens would second the first blow of Foch at the German salient towards Paris, the giant arm that was now left sticking out into the air to be hit; its own smashing blow had been struck without killing; its first

strength was spent; the spirit behind it was cracking; now, in its moment of check, of lost momentum, or risky extension, now to have at it and smash it. The bull had rushed right on to gore us and missed; we had his flank to stab now.

Some one who dined at the mess had just motored from Paris, through white dust and sunshine and, everywhere, quickly turned heads and eager faces. He had been in the streets all the night of the enemy's last mighty lunge at the city. He spoke of the silent crowds blackening the boulevards through the few hours of midsummer darkness; other crowds on the sky-line of roofs, all black and immobile, the whole city hushed to hear the bombardment, and staring, staring fixedly east at the flame that incessantly winked in the sky above Château-Thierry—history come to life, still enigmatic, but audible, visible, galloping through the night. Poor old France, tormented and stoical, what could not the world forgive her? Then he had seen the news come the next day to these that had thus watched as the non-combatants watched from the high walls of Troy; and how an American had broken down uncontrollably on hearing how his country's Third Division had bundled the Germans back into the Marne: 'We *are* all right! By God, we *are* all right!' he had cried, a whole new nation's secret self-distrust before a supercilious ancient world changing into a younger boy's ecstasy of relief in the thought that now he has jolly well given his proofs and the older boys will not sneer at him now, and he never need bluff any more. Good fellows really, the Yanks; most simple and human as soon as you knew them. One seemed to know everyone then, for that evening.

(II)

Night came on cloudless and windless and braced with autumn's first astringent tang of coolness. Above, as I lay on my back in the meadow, the whole dome had a stir of life in its shimmering fresco, stars flashing and winking with that eager air of having great things to impart—they have it on frosty nights in the Alps, over a high bivouac. We were all worked up, you see. Could it be coming at last, I thought as I went to sleep—the battle unlike other battles? How many I had seen outlive their little youth of

groundless hope, from the approach along darkened roads through summer nights, the eastern sky pulsating with its crimson flush, the wild glow always leaping up and always drawing in, and the waiting cavalry's lances upright, black and multitudinous in roadside fields, impaling the blenching sky just above the horizon; and then, in the bald dawn, the backward trickles of wastage swelling into great streams or rather endless friezes seen in silhouette across the fields, the trailing processions of wounded, English and German, on foot and on stretchers, dripping so much blood that some of the tracks were flamboyantly marked for miles across country; and then the evening's reports, with their anxious efforts to show that we had gained something worth having. Was it to be only Loos and the Somme and Arras and Flanders and Cambrai, all over again?

Thought must have passed into dream when I was awakened by some bird that may have had a dream too and had fallen right off its perch in a bush near my head, with a disconcerted squeak and a scuffling sound among dry leaves. Opening my eyes, I found that a thickish veil was drawn over the stars. When I sat up the veil was gone; my eyes were above it; a quilt of white mist, about a foot thick, had spread itself over the meadow. Good! Let it thicken away and be shoes of silence and armour of darkness at dawn for our men. Soon night's habitual sounds brought on sleep again. An owl in the wood by the little chalk stream would hoot, patiently wait for the answering call that should come, and then hoot again, and listen again. The low, dry, continuous buzz of an aeroplane engine, more evenly humming than any of ours, droned itself into hearing and softly ascended the scale of audibility; overhead, as the enemy passed, was slowly drawn across the sky from east to west a line of momentarily obscured stars, each coming back into sight as the next one was deleted. In the east the low, slow grumbling sound of a few guns from fifty miles of front seemed, in its approach to quietude, like the audible breath of a sleeper. The war was taking its rest.

Some sort of musing half-dream about summer heaths, buzzing with bees, was jarred by the big blunted sound, distant and dull, of wooden boxes tumbling down wooden stairs, 'off,' as they do in a farce. Of course—that night-bomber unloading on St Omer, Abbeville, Etaples, some one of the usual marks. But now there

was something to wake for. Not a star to be seen. I jumped up and found the mist thick to my armpits, and rising. Oh, good, good! Our men would walk safe as the attacking Germans had walked in the mist of that lovely and fatal morning in March. I slept hard till two o'clock came—time to get up for work. The mist was doing its best; it seemed to fill the whole wide vessel of the universe.

(III)

Ten miles to the east of Amiens a steep-sided ridge divides the converging rivers of Ancre and Somme. They meet where it sinks, at its western end, into the plain. From the ridge there was, in pre-war days, a beautiful view. On the south the ground fell from your feet abruptly, a kind of earth cliff, to the north bank of the Somme, about a hundred feet below. Southwards, beyond the river, stretched, as far as eye could see, the expanse of the level Santerre, one of France's best cornlands. South-eastward you looked up the Somme valley, mile after mile, towards Bray and Péronne—a shining valley of poplars and stream and linked ponds and red-roofed villages among the poplars. But now the Santerre lay untilled, gone back to heath of a faded fawn-grey. The red roofs had been shelled; the Germans possessed them; the Germans held the blasted heath, across the river; other Germans held most of the ridge on this side to a mile or so east of the point to which I was posted that morning. English troops were to carry the eastern end of the ridge and the tricky low ground between it and the Somme. Australian and Canadian troops were to attack on a broad front, out on the level Santerre, across the river and under our eyes.

But there was no seeing. The mist, in billowy, bolster-like masses, wallowed and rolled about at the touch of light airs; at one moment a figure some thirty yards off could be seen and then a thickened whiteness would rub it out; down the earth cliff we looked into a cauldron of that seething milky opaqueness. Of what might go on in that pit of enigma the eye could tell nothing; the mind hung on what news might come through the ear. We knew that there was to be no prior bombardment; the men would start with the barrage and go for five miles across the

Santerre if they could, pushing the enemy off it. The stage was set, the play of plays was about to begin on the broad stage below; only, between our eyes and the boards there was hung a white curtain.

Up the cliff, fumbling and muted, came the first burst of the barrage, suggesting, as barrages usually do, a race between sounds, a piece bangingly played against time on a keyboard. Now the men would be rising full length above earth and walking out with smoking breath and bejewelled eyebrows into the infested mist. Then our guns, for an interval, fell almost silent—first lift of the barrage—a chance for hungry ears to assess the weight of the enemy's answering gunfire. Surely, surely it had not all the volume it had had at Arras and Ypres last year. And then down came our barrage again, like one rifle-bolt banging home, and all thought was again with the friends before whose faces the wall of splashing metal, earth, and flame had just risen and moved on ahead like the pillars of fire and cloud.

Hours passed, bringing the usual changes of sounds in battles. The piece that had started so rapidly on the piano slowed down; the notes spaced themselves out; the first continuous barking of many guns slackened off irregularly into isolated barks and groups of barks—just what you hear from a dog whose temper is subsiding, with occasional returns. That, in itself, told nothing. Troops might only have gained a few hundred yards in the old Flanders way, and then flopped down to dig and be murdered. Or—but one kept a tight hand on hope. One had hoped too often since Loos. And then the mist lifted. It rolled right up into the sky in one piece, like a theatre curtain, almost suddenly taking its white quilted thickness away from between our eyes and the vision so much longed for during four years. Beyond the river a miracle—*the* miracle—had begun. It was going on fast. Remember that all previous advances had gained us little more than freedom to skulk up communication trenches a mile or two further eastward, if that. But now! Across the level Santerre, which the sun was beginning to fill with a mist-filtered lustre, two endless columns of British guns, wagons, and troops were marching steadily east, unshelled, over the ground that the Germans had held until dawn.

Nothing like it had ever been seen in the war. Above, on our

cliff, we turned and stared at each other. We must have looked rather like Cortes' men agape on their peak. The marvel seemed real; the road lay open and dry across the Red Sea. Far off, six thousand yards off in the shining south-east, tanks and cavalry were at work, shifting and gleaming and looking huge on the sky-line of some little rumpled fold of the Santerre plateau. Nearer, the glass could make out an enemy battery, captured complete, caught with the leather caps still on the muzzles of guns. The British dead on the plain, horses and men, lay scattered thinly over wide spaces; scarcely a foundered tank could be seen; the ground had turf on it still; it was only speckled with shell-holes, not disembowelled or flayed. The war had put on a sort of benignity, coming out gallantly on the top of the earth and moving about in the air and the sun; the warm heath, with so few dead upon it, looked almost clement and kind, almost gay after the scabrous mud wastes and the stink of the captured dug-outs of the Salient, piled up to ground-level with corpses, some feet uppermost, some heads, like fish in a basket, making you think what wonderful numbers there are of mankind. For a moment, the object of all dream and desire seemed to have come; the flaming sword was gone, and the gate of the garden open.

Too late, as you know. We awoke from delight, and remembered. Four years ago, three years ago, even two years ago, a lasting repose of beautitude might have come with that regaining of paradise! Now! The control of our armies, jealously hugged for so long and used, on the whole, to so little purpose, had passed from us, thrown up in a moment of failure, dissension and dread. While still outnumbered by the enemy we had not won; while on even terms with him we had not won; only under a foreign Commander-in-Chief, and with America's inexhaustible numbers crowding behind to hold up our old arms, had our just cause begun to prevail. And now the marred triumph would leave us jaded and disillusioned, divided, half bankrupt; sneerers at lofty endeavour, and yet not the men for the plodding of busy and orderly peace; bilious with faiths and enthusiasms gone sour in the stomach. That very night I was to hear the old Australian sneer again. The British corps on their left, at work in the twisty valley and knucklesome banks of the Somme, had failed to get on quite as fast as they and the Canadian troops on

their right. 'The Canadians were all right, of course, but the Tommies! Well, we might have known!' They had got rid, they chuckingly said, of their own last 'Tommy officers' now; they wanted to have it quite clear that in England's war record they were not involved except as our saviours from our sorry selves.

(IV)

There were other days, during the following months of worm-eaten success, when some mirage of the greater joys which we had forfeited hung for a few moments over the sand. It must be always a strange delight to an infantryman to explore at his ease, in security, ground that to him has been almost as unimaginable as events after death. There is no describing the vesture of enigmatic remoteness enfolding a long-watched enemy line. Tolstoy has tried, but even he does not come up to it. Vergil alone has expressed one sensation of the British overflow over Lille and Cambrai, Menin (even the Menin Road had an end) and Bruges and Ostend, Le Cateau and Landrecies, Liège and Namur—

Juvat ire et Dorica castra
Desertosque videre locos, litusque relictum.
Classibus hic locus, hic acie certare solebant,
Hic Dolopum manus, hic saevus tendebat Achilles.

And then, wherever you went, till the frontier was reached, everyone was your host and your friend; all the relations of strangers to one another had been transfigured into the sum of all kindness and courtesy. In one mining village in Flanders, quitted that day by the Germans, a woman rushed out of a house to give me a lump of bread, thinking that we must all be as hungry as she and her neighbours. Late one night in Brussels, just after the Germans had gone, I was walking with another officer down the chief street of the city, then densely crowded with radiant citizens. My friend had a wooden stump leg and could not walk very well; and this figure of a khaki-clad man, maimed in the discharge of an Allied obligation to Belgium, seemed suddenly and almost simultaneously to be seen by the whole of that great crowd in all its symbolic value, so that the crowd fell silent

and opened out spontaneously along the whole length of the street and my friend had to hobble down the middle of a long avenue of bare-headed men and bowing women.

Finally—last happy thrill of the war—the first stroke of eleven o'clock, on the morning of Armistice Day, on the town clock of Mons, only captured that morning; Belgian civilians and British soldiers crowding together into the square, shaking each other's hands and singing each other's national anthems; a little toy-like peal of bells in the church contriving to tinkle out 'Tipperary' for our welcome, while our airmen, released from their labours, tumbled and romped overhead like boys turning cartwheels with ecstasy.

What a victory it might have been—the real, the Winged Victory, chivalric, whole and unstained! The bride that our feckless wooing had sought and not won in the generous youth of the war had come to us now: an old woman, or dead, she no longer refused us. We had arrived, like the prince in the poem—

Too late for love, too late for joy,
Too late, too late!
You loitered on the road too long,
You trifled at the gate:
The enchanted dove upon her branch
Died without a mate;
The enchanted princess in her tower
Slept, died behind the grate:
Her heart was starving all this while
You made it wait.

Chapter XIII

THE OLD AGE OF THE WAR

(1)

MEN wearying in trenches used to tell one another sometimes what they fancied the end of the war would be like. Each had his particular favourite vision. Some morning the Captain would come down the trench at 'stand-to' and try to speak as if it were nothing. 'All right, men,' he would say, 'you can go across and shake hands.' Or the first thing we should hear would be some jubilant peal suddenly shaken out on the air from the nearest standing church in the rear. But the commonest vision was that of marching down a road to a wide, shining river. Once more the longing of a multitude struggling slowly across a venomous wilderness fixed itself on the first glimpse of a Jordan beyond; for most men the Rhine was the physical goal of effort, the term of endurance, the symbol of all attainment and rest.

To win what your youth had desired, and find the taste of it gone, is said to be one of the standard pains of old age. With a kind of blank space in their minds where the joy of fulfilment ought to have been, two British privates of 1914, now Captains attached to the Staff, emerged from the narrow and crowded High Street of Cologne on December 7, 1918, crossed the Cathedral square, and gained their first sight of the Rhine. As they stood on the Hohenzollern bridge and looked at the mighty breadth of rushing stream, each of them certainly gave his heart leave to leap up if it would and if it could. Had they not, by toil and entreaty, gained permission to enter the city with our first cavalry? Were they not putting their lips to the first glass of the sparkling vintage of victory? Neither of them said anything then. The heart that knoweth its own bitterness need not always avow it straight off. But they were friends; they told afterwards.

The first hours of that ultimate winding-up of the old, long-decaying estate of hopes and illusions were not the worst, either The cavalry brigadier in command at Colgne, those few first days,

was a man with a good fighting record; and now his gesture towards the conquered was that of the happy warrior, that of Virgilian Rome, that of the older England in hours of victory. German civilians clearly expected some kind of maltreatment, such perhaps as their own scum had given to Belgians. They strove with desperate care to be correct in their bearing, neither to jostle us accidentally in the streets nor to shrink away from us pointedly. Soon, to their surprise and shame, they found that among the combatant English there lingered the hobby of acting like those whom the Germans had known through their Shakespeare: 'We give express charge that in our marches through the country there be nothing compelled from the villages, nothing taken but paid for, none of the French upbraided or abused in disdainful language.'

The 'cease fire' order on Armistice Day had forbidden all 'fraternizing.' But any man who has fought with a sword, or its equivalent, knows more about that than the man who has only blown with a trumpet. To men who for years have lived like foxes or badgers, dodging their way from each day of being alive to the next, there comes back more easily, after a war, a sense of the tacit league that must, in mere decency, bind together all who cling precariously to life on a half-barren ball that goes spinning through space. All castaways together, all really marooned on the one desert island, they know that, however hard we may have to fight to sober a bully or guard to each man his share of the shell-fish and clams, we all have to come back at last to the joint work of making the island more fit to live on. The gesture of the decimated troops who held Cologne at the end of that year was, in essence, that of the cavalry brigadier. Sober or drunk, the men were contumaciously sportsmen, incorrigibly English. One night before Christmas I thought I heard voices outside my quarters long after curfew, and went to look out from my balcony high up in the Domhof into the moon-flooded expanse of the Cathedral square below. By rights there should have been no figures there at that hour, German or British. But there were three; two tipsy Highlanders—'Women from Hell,' as German soldiers used to call the demonic stabbers in kilts—gravely dispensing the consolations of chivalry to a stout burgher of Cologne. 'Och, dinna tak' it to hairrt, mon. I tell ye

that your lads were grond.' It was like a last leap of the flame that had burnt clear and high four years before.

(II)

For the day of the fighting man, him and his chivalric hobbies, was over. The guns had hardly ceased to fire before from the rear, from the bases, from London, there came flooding up the braves who for all those four years had been squealing threats and abuse, some of them begging off service in arms on the plea that squealing was indispensable national work. We had not been long in Cologne when there arrived in hot haste a young pressman from London, one of the first of a swarm. He looked a fine strong man. He seemed to be one of the male Vestals who have it for their trade to feed the eternal flame of hatred between nations, instead of cleaning out stables or doing some other work fit for a male. His train had fortunately brought him just in time for luncheon. This he ate and drank with goodwill, complaining only that the wine, which seemed to me good, was not better. He then slept on his bed until tea-time. Reanimated with tea, he said genially, 'Well, I must be getting on with my mission of hate,' and retired to his room to write a vivacious account of the wealth and luxury of Cologne, the guzzling in all cafés and restaurants, the fair round bellies of all the working class, the sleek and rosy children of the poor. I read it, two days after, in his paper. Our men who had helped to fight Germany down were going short of food at the time, through feeding the children in houses where they were billeted. 'Proper Zoo there is in this place,' one of them told me. 'Proper lions and tigers. Me and my friend are taking the kids from our billet soon's we've got them fatted up a bit. If you'll believe me, sir, them kiddies ain't safe in a Zoo. They could walk in through the bars and get patting the lions.' I had just seen some of the major carnivora in their cages close to the Rhine, each a rectangular lamina of fur and bone like the tottering cats I had seen pass through incredible slits of space in Amiens a month after the people had fled from the city that spring. But little it mattered in London what he or I saw. The nimble scamps had the ear of the world; what the soldier said was not evidence.

Some Allied non-combatants did almost unthinkable things in the first ecstasy of the triumph that others had won. One worthy drove into Cologne in a car plastered over with Union Jacks, like a minor bookie going to Epsom. It passed the wit of man to make him understand that one does not do these things to defeated peoples. But he could understand, with some help, that our Commander-in-Chief alone was entitled to carry a Union Jack on his car. 'We must show these fellows our power'; that was the form of the licence taken out by every churl in spirit who wanted to let his coltish nature loose on a waiter or barber in some German hotel. I saw one such gallant assert the majesty of the Allies by refusing to pay more than half the prices put down on the wine-list. Another would send a waiter across an hotel dining-room to order a quiet party of German men and women not to speak so loud. Another was all for inflicting little bullying indignities on the editor of the *Kölnische Zeitung*—making him print as matters of fact our versions of old cases of German misconduct, etc. Probably he did not even know that the intended exhibition-ground for these deplorable tricks was one of the great journals of Europe.

Not everybody, not even every non-combatant in the dress of a soldier, had caught that shabby epidemic of spite. But it was rife. It had become a fashion to have it, as in some raffish circles it is a fashion at times to have some rakish disease. In the German military cemetery at Lille I have heard a man reared at one of our most famous public schools and our most noble university, and then wearing our uniform, say that he thought the French might do well to desecrate all the German soldiers' graves on French soil. Another, at Brussels, commended a Belgian who was said to have stripped his wife naked in one of the streets of that city and cut off her hair on some airy suspicion of an affair with a German officer during the enemy's occupation. A fine sturdy sneer at the notion of doing anything chivalrous was by this time the mode. 'I hope to God,' an oldish and highly non-combatant general said, in discussing the probable terms of peace with a younger general who had begun the war as a full lieutenant and fought hard all the way up, 'that there's going to be no rot about not kicking a man when he's down.' The junior general grunted. He did not agree. But he clearly felt shy of protesting. Wor-

shippers of setting suns feel ill at ease in discussion with these bright, confident fellows who swear by the rising one.

(III)

The senior general need not have feared. The generous youth of the war, when England could carry, with no air of burlesque, the flag of St George, was pretty well gone. The authentic flame might still flicker on in the minds of a few tired soldiers and disregarded civilians. Otherwise it was as dead as the half-million of good fellows whom it had fired four years ago, whose credulous hearts the maggots were now eating under so many shining and streaming square miles of wet Flanders and Picardy. They gone, their war had lived into a kind of dotage ruled by mean fears and desires. At home our places of honour were brown with shirkers masquerading in the dead men's clothes and licensed by careless authorities to shelter themselves from all danger under the titles of Colonel, Major, and Captain. Nimble politicians were rushing already to coin into votes for themselves—'the men who won the war'—the golden memory of the dead before the living could come home and make themselves heard. Sounds of a general election, the yells of political cheap-jacks, the bawling of some shabby promise, capped by some shabbier bawl, made their way out to Cologne.

'This way, gents, for the right sort of whip to give Germans!' 'Rats, gentlemen, rats! Don't listen to *him*. Leave it to me and I'll chastise 'em with scorpions.' 'I'll devise the brave punishments for them.' 'Ah, but I'll sweat you more money out of the swine.' That was the gist of the din that most of the gramophones of the home press gave out on the Rhine. Each little demagogue had got his little pots of pitch and sulphur on sale for the proper giving of hell to the enemy whom he had not faced. Germany lay at our feet, a world's wonder of downfall, a very Lucifer, fallen, broken, bereaved beyond all the retributive griefs which Greek tragedy shows you afflicting the great who were insolent, wilful, and proud. But it was not enough for our small epicures of revenge. They wanted to twist the enemy's wrists, where he lay bound, and to run pins into his eyes. And they had the upper hand of us now. The soldiers could only look on while the scurvy

performance dragged itself out till the meanest of treaties was signed at Versailles. 'Fatal Versailles!' as General Sir Ian Hamilton said for us all; 'Not a line—not one line in your treaty to show that those boys (our friends who were dead) had been any better than the emperors; not one line to stand for the kindliness of England; not one word to bring back some memory of the generosity of her sons!'

'The freedom of Europe,' 'The war to end war,' 'The overthrow of militarism,' 'The cause of civilization'—most people believe so little now in anything or anyone that they would find it hard to understand the simplicity and intensity of faith with which these phrases were once taken among our troops, or the certitude felt by hundreds of thousands of men who are now dead that if they were killed their monument would be a new Europe not soured or soiled with the hates and greeds of the old. That the old spirit of Prussia might not infest our world any more; that they or, if not they, their sons might breathe a new, cleaner air they had willingly hung themselves up to rot on the uncut wire at Loos or wriggled to death, slow hour by hour, in the cold filth at Broodseinde. Now all was done that man could do, and all was done in vain. The old spirit of Prussia was blowing anew, from strange mouths. From several species of men who passed for English—as mongrels, curs, shoughs, water-rugs, and demi-wolves are all clept by the name of dogs—there was rising a chorus of shrill yelps for the outdoing of all the base folly committed by Prussia when drunk with her old conquest of France. Prussia, beaten out of the field, had won in the souls of her conquerors' rulers; they had become her pupils; they took her word for it that she, and not the older England, knew how to use victory.

(IV)

Sir Douglas Haig came to Cologne when we had been there a few days. On the grandiose bridge over the Rhine he made a short speech to a few of us. Most of it sounded as if the thing were a job he had got to get through with, and did not much care for. Perhaps the speech, like those of other great men who wisely hate making speeches, had been written for him by somebody else. But once he looked up from the paper and put in some words

which I felt sure were his own; 'I only hope that, now we have won, we shall not lose our heads, as the Germans did after 1870. It has brought them to this.' He looked at the gigantic mounted statue of the Kaiser overhead, a thing crying out in its pride for fire from heaven to fall and consume it, and at the homely, squat British sentry moving below on his post. I think the speech was reported. But none of our foremen at home took any notice of it at all. They knew a trick worth two of Haig's. They were as moonstruck as any victorious Prussian.

So we had failed—had won the fight and lost the prize; the garland of the war was withered before it was gained. The lost years, the broken youth, the dead friends, the women's overshadowed lives at home, the agony and bloody sweat—all had gone to darken the stains which most of us had thought to scour out of the world that our children would live in. Many men felt, and said to each other, that they had been fooled. They had believed that their country was backing them. They had thought, as they marched into Germany, 'Now we shall show old Fritz how you treat a man when you've thrashed him.' They would let him into the English secret, the tip that the power and glory are not to the bully. As some of them looked at the melancholy performance which followed, our Press and our politicians parading at Paris in moral *pickelhauben* and doing the Prussianist goose-step by way of *pas de triomphe*, they could not but say in dismay to themselves: 'This is our doing. We cannot wish the war unwon, and yet—if we had shirked, poor old England, for all we know, might not have come to this pass. So we come home draggle-tailed, sick of the mess that we were unwittingly helping to make when we tried to do well.'

Chapter XIV

OUR MODERATE SATANISTS

(1)

SATANISM is one of the words that most of us simple people have heard others use; we guiltily feel that we ought to know what it means, but do not quite like to ask, lest we expose the nakedness of the land. Then comes Professor Gilbert Murray, one of the few learned men who are able to make a thing clear to people not quite like themselves, and tells us all about it in a cheap, small book, easy to read. It seems that the Satanists, or the pick of the sect, were Bohemian Protestants at the start, and quite plain, poor men from the country.

> 'Every person in authority met them with rack and sword, cursed their religious leaders as emissaries of the Devil, and punished them for all the things which they considered holy. The earth was the Lord's, and the Pope and Emperor were the vicegerents of God upon the earth. So they were told; and in time they accepted the statement. That was the division of the world. On the one side God, Pope and Emperor, and the army of persecutors; on the other themselves, downtrodden and poor . . .'

How easy to understand! In crude works of non-imagination the wicked, *repente turpissimus*, suddenly says, some fine morning, 'Evil, be thou my good.' In life the conversion is slower. It is a gradual process of coming to feel that what has passed officially as true, right, and worshipful is so implicated in work manifestly dirty, and so easily made to serve the ends of the greedy, lazy, and cruel, that faith in its authenticity has to be given up as not to be squared with the facts of the world. From feeling this it is not a long step to the further surmise that the grand traditional foe of that old moral order of the world, now so severely discredited, may be less black than so lying an artist has painted him. Does he not, anyhow, stand at the opposite pole to that

which has just proved itself base? He, too, perhaps, is some helpless butt of the slings and arrows of an enthroned barbarity tormenting the world. The legend about his condign fall from heaven may only be some propagandist lie—all we are suffered to hear about some early crime in the long, beastly annals of governmental misdoing. So thought trips, fairly lightly, along till your worthy Bohemian peasant, literal, serious, and straight, like the plain working-man of all countrysides, turns, with a desperate logical integrity and courage, right away from a world order which has called itself divine and shown itself diabolic. He will embrace, in its stead, the only other world order supposed to be extant; the one which the former order called diabolic; at any rate, he has not wittingly suffered any such wrong at its hand as the scourges of Popes and of Emperors. So the plain man emerges a Satanist.

(II)

To-day the convert does not insist upon bearing the new name. He does not, except in the case of a few doctrinaire bigots, repeat any Satanist creed. But in several portions of Europe the war made conversions abound. Imagine the state of mind that it must have induced in many a plain Russian peasant, literal, serious, and straight, like the Bohemian. First the Tsar, in the name of God and of Holy Russia, sent him, perhaps without so much as a rifle, to starve and be shelled in a trench. If he escaped, the Soviet chiefs, in the name of justice, sent him to fight against those for whom the Tsar had made him fight before, while his wife and babies were starved by those whom he had fought both for and against. When his fighting was done he was made, in the name of social right, an industrial conscript or wage-slave. If alive today, he is probably overworked and starved, perhaps far from home, his family life broken up, his instinct or right of self-direction ignored or punished as treason by rulers whom he did not choose, his whole country in danger of lapsing into the abject miseries of an uncared-for fowl-run—all brought about in the name of human freedom.

Consider, again, the case of some German or Austrian widow with many young children. The Kaiser's Government, breathing

the most Christian sentiments, gave the Fatherland war in her time; her husband was killed, her country is ruined, her children are growing up stunted and marred by all the years of semi-starvation; the Paris Press is crying out, in the name of moral order throughout the world, that they ought to be starved more drastically; part of the English Press complains, in the tone of an outraged spiritual director, that she has shown no adequate signs of repentance of the Kaiser's sins, and that she and hers are living like fighting cocks; the German Agrarian Party, in the name of Patriotism, manœuvres to keep her from getting her weekly ounce or two of butcher's meat from abroad more cheaply than they would like to sell it to her at home.

What could you say to such people if they should break out at last in despair and defiance: 'Anyhow, all these people, here and abroad, who take upon themselves to speak for God and duty and patriotism and liberty and loyalty are evil people, and do evil things. Shall not all these trees that they swear by be judged by their fruits? Away with them into the fire, God and country and social duty and justice and every old phrase that used to seem more than a phrase till the war came to show it up for what it was worth as a means to right conduct in men?' Of course you could say a great deal. But at every third word they could incommode you with some stumping case of the foulest thing done in the holiest name till you would be shamed into silence at the sight of all the crowns of thorns brought to market by keepers of what you still believe to be vineyards. So, throughout much of Europe, Satan's most promising innings for many long years has begun.

(III)

In their vices as well as their virtues the English preserve a distinguished moderation. They do not utterly shrink from jobbery, for example; they do from a job that is flagrant or gross. They give judgeships as prizes for party support, but not to the utterly briefless, the dullard who knows no more law than necessity. Building contractors, when in the course of their rise they become town councillors, do not give bribes right and left: their businesses thrive without that. An Irishman running a Tammany

in the States cannot thus hold himself in: the humorous side of corruption charms him too much: he wants to let the grand farce of roguery rip for all it is worth. But the English private's pet dictum, 'There's reason in everything,' rules the jobber, the profiteer, the shirker and placeman of Albion as firmly as it controls the imagination of her Wordsworths and the political idealism of her Cromwells and Pitts. Like her native cockroaches and bugs, whose moderate stature excites the admiration and envy of human dwellers among the corresponding fauna of the tropics, the caterpillars of her commonwealth preserve the golden mean; few, indeed, are flamboyants or megalomaniacs.

So, when the war with its great opportunities came we were but temperately robbed by our own birds of prey. Makers of munitions made mighty fortunes out of our peril. Still, every British soldier did have a rifle, at any rate when he went to the front. I have watched a twelve-inch gun fire, in action, fifteen of its great bales or barrels of high explosives, fifteen running, and only three of the fifteen costly packages failed to explode duly on its arrival beyond. Vendors of soldiers' clothes and boots acquired from us the wealth which dazzles us all in these days of our own poverty. They knew how to charge: they made hay with a will while the blessed suns of 1914-18 were high in the heavens. Still, nearly all the tunics made in that day of temptation did hold together; none of the boots, so far as I knew or heard tell, was made of brown paper. 'He that maketh haste to be rich shall not be innocent.' Still, there is reason in everything. 'Meden agan,' as the Greeks said—temperance in all things, even in robbery, even in patriotism and personal honour. Our profiteers did not bid Satan get him behind them; but they did ask him to stand a little to one side.

So, too, in the army. Some old Regular sergeant-majors would sell every stripe that they could, but they would not sell a map to the enemy. Some of our higher commanders would use their A.D.C. rooms as funk-holes to shelter the healthy young nephew or son of their good friend the earl, or their distant cousin the marquis. But there were others. Sometimes a part of our Staff would almost seem to forget the war, and give its undivided mind to major struggles—its own intestine 'strafes' and the more bitter war against uncomplaisant politicians at home. But presently it

would remember, and work with a will. There was, again, an undeniable impulse abroad, among the 'best people' of the old Army, to fall back towards G.H.Q. and its safety as soon as the first few months made it clear that this was to be none of our old gymkhana wars, but almost certainly lethal to regimental officers who stayed it out with their units. But this centripetal instinct, this 'safety first' movement, though real, was moderate. Lists of headquarter formations might show an appreciable excess of names of some social distinction. But not an outrageous excess. Some peers and old baronets and their sons were still getting killed, by their own choice, along with the plebs to the very end of the war. Again, all through the war one could not deny that those who had chosen the safer part, or had it imposed upon them, absorbed a stout and peckish lion's share of the rewards for martial valour. And yet they did not absolutely withhold these meeds from officers and men who fought. The king of beasts being duly served, these hard-bitten jackals got some share, though not perhaps, for their numbers, a copious one. Some well-placed shirkers were filled with good things, but the brave were not sent utterly empty away. Guardsmen and cavalrymen, the least richly brained soldiers we had, kept to themselves the bulk of the distinguished jobs for which brainwork was needed; and yet the poor foot-soldier was not expressly taboo; quite a good billet would fall to him sometimes—Plumer commanded an army.

As with the moral virtues, so with the mental. Brilliancy, genius, scientific imagination in any higher command would have caused almost a shock; a general with the demonic insight to see that he had got the enemy stiff at Arras in 1917 and at Cambrai the same autumn, might have seemed an *outré* highbrow, almost unsafe. And yet the utter slacker was not countenanced, and the dunce had been known to be so dull that he was sent home as an empty by those unexacting chiefs. There was reason in everything, even in reason.

(IV)

All this relative mildness in the irritants administered to the common Englishman as soldier had its counterpart in the men's ingrained moderateness of reaction. At Bray-sur-Somme during

the battle of 1916 I saw a French soldier go so mad with rage at what he considered to be the deficiencies of his leaders that he brought out each article of his kit and equipment in succession to the door of his billet and threw it into the deep central mud of the road with a separate curse, at each cast, on war, patriotism, civilization, and the Commander-in-Chief. This Athanasian service of commination endured for a full quarter of an hour. But from an English private who witnessed the rite it only drew the phlegmatic diagnosis: 'He'll 'ave 'ad a drop o' sugar-water an' got excited.' Firewater itself could not excite the English soldier to so rounded an eloquence or to so sweeping a series of judgements. He never thought of throwing his messing-tin and his paybook into the mud; still less of forming a Council of Soldiers and Workmen. Either step would have been of the abhorred nature of a 'scene.'

Unagressive, unoriginal, anti-extreme, contemptuous of all 'hot-air' and windy ideas, he too was braked by the same internal negations that helped to keep his irredeemably middling commanders equidistant from genius and from arrant failure. Confronted now with the frustration of so many too-high hopes, the discrediting of so many persons or institutions hitherto taken on trust, he did not say, as the humbler sort of Bolshevist seems to have said in his heart: 'What order, or disorder, could ever be worse than this which has failed? Why not anything, any wild-seeming nihilism or fantasy of savage rudeness, rather than sit quiet under this old contemptible rule?' Instead of contracting a violent new sort of heat he simply went cold, and has remained so. Where a Slav or a Latin might have become a hundred per cent Satanist he became about a thirty per center. The disbelief, the suspicion, the vacuous space in the disendowed heart, the spiritual rubbish-heap of draggled banners and burst drums—all that blank, unlighting and unwarming part of Satanism was his, without any other: a Lucifer cold as a moon prompted him listlessly, not to passionate efforts of crime, but to self-regarding and indolent apathy.

From the day he went into the army till now he has been learning to take many things less seriously than he did. First what Burke calls the pomps and plausibilities of the world. He has tumbled many kings into the dust and proved the strongest

emperor assailable. I remember a little private, who seemed to know Dickens by heart, applying to William the Second in 1915 the words used by the Game Chicken about Mr Dombey—'as stiff a cove as ever he see, but within the resources of science to double him up with one blow in the waistcoat.' This he proved, too, he and his like, casting down the proud from their seats with little help from all that was highly placed and reverently regarded in his own country. Our ruling class had, on the whole, failed, and had to be pulled through by him and the French and Americans; that feeling, in one form or another, is clear in the common man's mind. He may not know in detail the record of French as commander-in-chief, nor the exact state of the Admiralty which let the *Goeben* and the *Breslau* go free, nor the inner side of the diplomacy which added Turkey, and even Bulgaria, to our enemies, nor yet the well-born underworld of war-time luxury, disloyalty, and intrigue which notorious memoirs have since revealed. But some horse instinct or some pricking in his thumbs told him correctly that in every public service manned mainly by our upper classes the war-time achievement was relatively low. There is very little natural inclination to class jealousy among plain Englishmen. Equalitarian theory does not interest them much. Their general relish for a gamble makes them rather like a lucky-bag or bran-tub society in which anyone may pick up, with luck, a huge unearned prize. By cheerfully helping to keep up the big gaming-hell, by giving Barnatos and Joels pretty full value for their win, the pre-war governing class gained a kind of strength which a prouder and more fastidious aristocracy would have foregone. It stands in little physical danger now. But it lives, since the war, in a kind of contempt. The one good word that the average private had for bestowal among his unseen 'betters' during the later years of the war was for the King. '*He* did give up his beer' was said a thousand times by men whom that symbolic act of willing comradeship with the dry throat on the march and the war-pinched household at home had touched and astonished.

Other institutions, too, had been weighed in the balance. The War Office was only the commonest of many by-words. The Houses of Parliament, in which too many men of military age had demanded the forced enlistment of others, wore an air of

insincerity, apart from the loss of prestige inevitable in a war; for armies always take the colour out of deliberative essemblies. To moderate this effect a large number of members who did not go to the war found means to wear khaki in London instead of black, but this well-conceived precaution only succeeded in further curling the lip of derision among actual soldiers. The churches, as we have seen, got their chance, made little or nothing of it, and came out of the war quite good secular friends with the men, but almost null and void in their eyes as ghostly counsellors, and stripped of the vague consequence with which many men had hitherto credited them on account of any divine mission they might be found to have upon closer acquaintance. Respect for the truthfulness of the Press was clean gone. The contrast between the daily events that men saw and the daily accounts that were printed was final. What the Press said thenceforth was not evidence. But still it had sent out plum puddings at Christmas.

Neither was anything evidence now that was said by a politician. A great many plain men had really drawn a distinction, all their lives, between the solemn public assurances of statesmen and the solemn public assurances of men who draw teeth outside dock-gates and take off their caps and call upon God to blast the health of their own darling children if a certain pill they have for sale does not cure colds, measles, ringworm, and the gripes within twenty-four hours of taking. A Swift might say there never was any difference, but the plain man had always firmly believed that there was. Now, after the war, he is shaken. Every disease which victory was to cure he sees raging worse than before: more poverty, less liberty, more likelihood of other wars, more spite between master and man, less national comradeship. And then the crucial test case, the solemn vow of the statesmen, all with their hands on their sleek bosoms, that if only the common man would save them just that once they would turn to and think of nothing else, do nothing else, but build him a house, assure him of work, settle him on land, make all England a paradise for him—a 'land fit for heroes to live in.' And then the sequel: the cold fit; the feint at house-building and its abandonment; all the bankruptcy of promise; the ultimate bilking, done by way of reluctant surrender to 'anti-waste' stunts got up by the

same cheap-jacks of the Press who in the first year of the war would have had the statesmen promise yet more wildly than they did. Colds, measles, ringworm, and gripes all flourishing, much more than twenty-four hours after, and new ailments added unto them.

No relief, either, by running from one medicine-man to the next. Few of our disenchanted men doubt that the lightning cure of the Communist is only just another version of the lightning cure of the Tory, the authoritarian, the peremptory regimentalist. 'Give *me* a free hand and all will be well with you.' Both say exactly the same thing in the end. One of them may call it the rule of the fittest, the other the rule of the proletariat; each means exactly the same thing—the rule of himself, the enforcement on everyone else of his own darling theory of what is best for them, whether they know it or not. Small choice is rotten apples; one bellyful of east wind is a diet as poor as another. Not in the yells and counter-yells of this and that vendor of patent hot-air is the heart of the average ex-soldier engaged. Rather 'Away with all gas-projectors alike' is his present feeling towards eloquent men, Left or Right. For the moment he knows them too well, and is tired of hearing of plans which might work if he were either a babe in arms or a Michael of super-angelic wisdom and power.

(V)

You may be disillusioned about the value of things, or about their security, either coming to feel that your house is a poor place to live in or that, pleasant or not, it is likely enough to come down on your head. Of these two forms of discomfort our friend experiences both. Much that he took to be fairly noble now looks pretty mean; and much that seemed reassuringly stable is seen to be shaky. Civilization itself, the at any rate habitable dwelling which was to be shored up by the war, wears a strange new air of precariousness.

Even before the war a series of melancholy public misadventures had gone some way to awake the disquieting notion that civilization, the whole ordered, fruitful joint action of a nation, a continent, or the whole world, was only a bluff. When the world is at peace and fares well, the party of order and decency, justice

and mercy and self-control, is really bluffing a much larger party of egoism and greed that would bully and grab if it dared. The deep anti-social offence of the 'suffragettes,' with their hatchets and hunger-strikes, was that they gave away, in some measure, the bluff by which non-criminal people had hitherto kept some control over reluctant assentors to the rule of mutual protection and forbearance. They helped the baser sort to see that the bluff of civilization is at the mercy of anyone ready to run a little bodily risk in calling it. Sir Edward Carson took up the work. He 'called' the bluff of the Pax Britannica, the presumption that armed treason to the law and order of the British Empire must lead to the discomfiture of the traitor, whoever he was; he presented Sinn Fein and every other would-be insurgent with proof that treason may securely do much more than peep at what it would; British subjects, he showed, might quite well conspire for armed revolt against the King's peace and not be any losers, in their own persons, by doing it.

The greatest of all bluffs, the general peace of the world and the joint civilization of Europe, remained uncalled for a year or two more. It was a high moral bluff. People were everywhere saying that world-war was too appalling, too frantically wicked a thing for any government to invite or procure. Peace, they argued, held a hand irresistibly strong. Had she not, among her cards, every acknowledged precept of Christianity and of morality, even of wisdom for a man's self or a nation's? Potsdam called the world's bluff, and the world's hand was found to be empty. Potsdam lost the game in the end, but it had not called wholly in vain. To a Europe exhausted, divided, and degraded by five years of return to the morals of the Stone Age it had suggested how many things are as they are, how many things are owned as they are, how many lives are safely continued, merely because our birds of prey have not yet had the wit to see what would come of a sudden snatch made with a will and with assurance. The total number of policemen on a racecourse is always a minute percentage of the total number of its thieves and roughs. The bad men are not held down by force; they are only bluffed by the pretence of it. They have got the tip now, and the plain man is dimly aware how surprisingly little there is to keep us all from slipping back into the state we were in when

a man would kill another to steal a piece of food that he had got, and when a young woman was not safe on a road out of sight of her friends.

The plain man, so far as I know him, is neither aghast nor gleeful at this revelation. For the most part he looks somewhat listlessly on, as at a probable dog-fight in which there is no dog of his. A sense of moral horror does not come easily when you have supped full of horrors on most of the days of three or four years; sacrilege has to go far, indeed, to shock men who have seen their old gods looking extremely human and blowing out, one by one, the candles before their own shrines. Some new god, or devil, of course, may enter at any time into this disfurnished soul. Genius in some leader might either possess it with an anarchic passion to smash and delete all the old institutions that disappointed in the day of trial or fire it with a new craving to lift itself clear of the wrack and possess itself on the heights. For either a Lenin or a St Francis there is a wide field to till, cleared, but of pretty stiff clay. Persistently sane in his disenchantment as he had been in his rapture, the common man, whose affection and trust the old order wore out in the war, is still slow to enlist out-and-out in any Satanist unit. There's reason, he still feels, in everything. So he remains, for the time, like one of the angels whom the Renaissance poet represented as reincarnate in man; the ones who in the insurrection of Lucifer were not for Jehovah nor yet for his enemy.

Chapter XV

ANY CURE?

(1)

How shall it all be set right? For it must be, of course. A people that did not wait to be pushed off its seat by the Kaiser is not likely now to turn its face to the wall and die inertly of shortage of faith and general moral debility. Some day soon we shall have to cease squatting among the potsherds and crabbing each other, and give all the strength we have left to the job of regaining the old control of ourselves and our fate which, in the days of our health, could only be kept by putting forth constantly the whole force of the will. 'Not to be done,' you may say. And, of course, it will be a miracle. But only the everyday miracle done in somebody's body, or else in his soul. When the skin shines white and tight over the joints, and the face is only a skull with some varieties of expression, and the very flame flickers and jumps in the lamp, the body will bend itself up to expel a disease that it could not, in all its first splendour of health, keep from the door. In all the breeds of cowardly livers—drunkards, thieves, liars, sorners, drug-takers, all the kinds that have run from the enemy, throwing away as they ran every weapon that better men use to repel him—you will find some that turn in the end and rend with their bare hands the fiend that they could not face with their bow and their spear.

But these recoveries only come upon terms: no going back to heaven except through a certain purgatorial passage. There, while it lasts, the invalid must not expect to enjoy either the heady visions of the fever that is now taking its leave or the more temperate beautitude of the health that may presently come. He lies reduced to animal, almost vegetable, matter, quite joyless and unthrilled, and has to abide in numb passivity, like an unborn child's, whatever may come of the million minute molecular changes going on unseen in the enigmatic darkness of his tissues, where tiny cell is adding itself to tiny cell to build he knows not

what. And then some day the real thing, the second birth as wonderful as the first, comes of itself and the stars are singing together all right and the sons of God shouting for joy. The same way with the spirit, except that the body faints, and so is eased, at some point in any rising scale of torment: the spirit has to go on through the mill without such anæsthetics as fainting. So the man who has gone far off the rails in matters of conduct, and tries to get back to them, has such hells of patience to live through, and out of, as no liquid fire known to the war chemists could make for the flesh. To possess your soul in patience, with all the skin and some of the flesh burnt off your face and hands, is a job for a boy compared with the pains of a man who has lived pretty long in the exhilarating world that drugs or strong waters seem to create and is trying to live now in the first bald desolation created by knocking them off, the time in which

The dulled heart feels
That somewhere, sealed with hopeless seals,
The unmeaning heaven about him reels,
And he lies hurled
Beyond the roar of all the wheels
Of all the world.

And yet no other way out. Disease and imbecility and an early and ignoble death, or else that stoic facing, through interminable days, of an easily escapable dullness that may be anything from an ache up to an agony.

(II)

That is about where we stand as a nation. Of course, a few fortunates mailed in a happy, indefeasible genius of wonder and delight at everything round them are all right. And so are a few clods of whole-hog insensibility. Most of us, on the whole, find that effort is less fun than it was, and many things somewhat dull that used to sparkle with interest; the salt has lost, not all, but some of its savour; the grasshopper is a bit of a burden; old hobbies of politics, social causes, liberal comradeships, the loves and wars of letters and art, which used to excite, look at times as if they might only have been, at the best, rather a much ado about

nothing; buzzing about our heads there come importunate suspicions that much of what we used to do so keenly was hardly worth doing, and that the dim, far goals we used to struggle towards were only possibly worth trying for and are, anyhow, out of reach now. That is the somewhat sick spirit's condition. The limp apathy that we see at elections, the curious indifference in presence of public wrongs and horrors, the epidemic of sneaking pilferage, the slackening of sexual self-control—all these are symptomatic like the furred tongue, subnormal heat, and muddy eye.

Like the hard drinker next morning, we suffer a touch of Hamlet's complaint, the malady of the dyspeptic soul, of indolent kings and of pampered youth before it has found any man's work to try itself on—

How weary, stale, flat, and unprofitable
To me are all the uses of the world!

Not the despair of the battered, vanquished, or oppressed, but the moping of the relaxed, the surfeited, or the morbid. Glad as we all were to be done with the war, its end left even the strongest of us a little let down, as the ends of other long and intense excitements, good or bad, do. As Ibsen's young woman out in search of thrills would have said, there were harps in the air during the war. Many of them were disagreeable in their timbre, but still they were harps. Since the war a good many of the weaker vessels have somehow failed to find harps in the air, though there are really plenty of them in full vibration. So they have run about looking for little pick-me-ups and nips of something mildly exciting to keep up to par their sagging sense of the adventuresomeness of life. Derby sweeps never had such a vogue; every kind of gamble has boomed; dealers in public entertainment have found that the rawest sensationalism pays better than ever—anything that will give a fillip, any poor new-whisky fillip, to jaded nerves.

(III)

Of course, life itself is all right. It never grows dull. All dullness is in the mind; it comes out thence and diffuses itself over everything round the dull person, and then he terms everything dull,

and thinks himself the victim of the impact of dull things. In stupid rich people, in boys and girls deadeningly taught at dead-alive schools, in all disappointed weaklings and in declining nations, this loss of power to shed anything but dullness upon what one sees and hears is common enough. Second-rate academic people, Victorian official art, the French Second Empire drama, late Latin literature exhibit its ravages well. In healthy children, in men and women of high mental vitality, in places where any of the radio-activity of gifted teaching breaks out for a while, and in swiftly and worthily rising nations the mind is easily delighted and absorbed by almost any atom of ordinary experience and its relation to the rest. The wonder and beauty and humour of life go on just the same as ever whether Spain or Holland or Italy feel them or miss them; youth would somewhere hear the chimes at midnight with the stir they made in Shakespeare's wits although all England were peopled for ages with dullards whose pastors and masters had trained them to find the divine Falstaffiad as dull as a thaw.

It need not come to that. Sick as we are, we have still in reserve the last resource of the sick, that saving miracle of recuperative force with which I have bored you. To let the sick part of our soul just be still and recover; to make our alcoholized tissues just do their work long enough on plain water—that, if we can but do it, is all the sweeping and garnishing needed to make us possible dwelling-places again for the vitalizing spirit of sane delight in whatever adventure befalls us. How, then, to do it? Not, I fancy, by any kind of pow-wow or palaver of congress, conference, general committee, sub-committee, or other expedient for talking in company instead of working alone. This is an individual's job, and a somewhat lonely one, though a nation has to be saved by it. To get down to work, whoever else idles; to tell no lies, whoever else may thrive on their use; to keep fit, and the beast in you down; to help any who need it; to take less from your world than you give it; to go without the old drams to the nerves—the hero stunt, the sob story, all the darling liqueurs of war emotionalism, war vanity, war spite, war rant and cant of every kind; and to do it all, not in a sentimental mood of self-pity like some actor mouthing in an empty theatre and thinking what treasures the absent audience has lost, but like

a man on a sheep-farm in the mountains, as much alone and at peace with his work of maintaining the world as God was when he made it.

You remember the little French towns which the pestle and mortar of war had so ground into dust, red and white, that each separate brick went back at last, dust to dust, to mix with the earth from which it had come. The very clay of them has to be put into moulds and fired again. To some such remaking of bricks, some shaping and hardening anew of the most elementary, plainest units of rightness in action, we have to get back. Humdrum decencies, patiently practised through millions of undistinguished lives, were the myriad bricks out of which all the advanced architecture of conduct was built—the solemn temples of creeds, gorgeous palaces of romantic heroism, cloud-capped towers of patriotic exaltation. And now, just when there seems to be such a babble as never before about these grandiose structures, bricks have run short.

Something simple, minute, and obscure, wholly good and not puffed up at all, something almost atomic—a grain of wheat, a thread of wool, a crystal of clean salt, figures best the kind of human excellence of which our world has now most need. We would seem to have plunged on too fast and too far, like boys who have taken to spouting six-syllabled words until they forget what they had learnt of the alphabet. The moral beauty of perfect contrition is preached to a beaten enemy by our Press while the vitals of England are rotting with unprecedented growths of venereal disease: an England of boundlessly advertised heroes and saints has ousted the England in which you would never, wherever you travelled, be given wrong change on a bus.

The wise man saved his little city, 'yet no man remembered that same poor man,' and no one had better take to this way of saving England if what he wants is public distinction. It will be a career as undistinguished as that of one of the extra corpuscles formed in the blood to enable a lowland man to live on Himalayan heights. Our best friends for a long time to come will not be any of the standing cynosures of reporters' eyes; they will find a part of their satisfaction in being nobodies; assured of the truth of the saying that there is no limit to what a man can do so long as he does not care a straw who gets the credit for it. Work-

ing apart from the whole overblown world of war valuations, the scramble for honours earned and unearned, the plotting and jostling for front places on the stage and larger letters on the bill, the whole life that is commonly held up to admiration as great and enviable, they will live in a kind of retreat almost cloistral; plenty of work for the faculties, plenty of rest for the nerves, control for desire and atrophy for conceit. Hard?—yes, but England is worth it.

(IV)

Among the mind's powers is one that comes of itself to many children and artists. It need not be lost, to the end of his days, by anyone who has ever had it. This is the power of taking delight in a thing, or rather in anything, everything, not as a means to some other end, but just because it is what it is, as the lover dotes on whatever may be the traits of the beloved object. A child in the full health of his mind will put his hand flat on the summer turf, feel it, and give a little shiver of private glee at the elastic firmness of the globe. He is not thinking how well it will do for some game or to feed sheep upon. That would be the way of the wooer whose mind runs on his mistress's money. The child's is sheer affection, the true ecstatic sense of the thing's inherent characteristics. No matter what the things may be, no matter what they are good or no good for, there they are, each with a thrilling unique look and feel of its own, like a face; the iron astringently cool under its paint, the painted wood familiarly warmer, the clod crumbling enchantingly down in the hands, with its little dry smell of the sun and of hot nettles; each common thing a personality marked by delicious differences.

This joy of an Adam new to the garden and just looking round is brought by the normal child to the things that he does as well as those that he sees. To be suffered to do some plain work with the real spade used by mankind can give him a mystical exaltation: to come home with his legs, as the French say, re-entering his body from the fatigue of helping the gardener to weed beds sends him to sleep in the glow of a beatitude that is an end in itself. Then the paradoxes of conduct begin to twinkle into sight; sugar is good, but there is a time to refrain from taking it though

you can; a lie will easily get you out of a scrape, and yet, strangely and beautifully, rapture possesses you when you have taken the scrape and left out the lie. Divine unreason, as little scrutable and yet as surely a friend as the star that hangs a lamp out from the Pole to show you the way across gorse-covered commons in Surrey. So he will toe the line of a duty, not with a mere release from dismay, but exultantly, with the fire and lifting of heart of the strong man and the bridegroom, feeling always the same secret and almost sensuous transport, while he suppresses a base impulse, that he felt when he pressed the warm turf with his hand or the crumbling clay trickled warm between his fingers.

The right education, if we could find it, would work up this creative faculty of delight into all its branching possibilities of knowledge, wisdom, and nobility. Of all three it is the beginning, condition, or raw material. At present it almost seems to be the aim of the commonplace teacher to take it firmly away from any pupil so blessed as to possess it. How we all know the kind of public school master whose manner expresses breezy comradeship with the boys in facing jointly the boredom of admittedly beastly but still unavoidable lessons! And the assumption that life out of school is too dull to be faced without the aid of infinitely elaborated games! And the girl schools where it seems to be feared that evil must come in any space of free time in which neither a game nor a dance nor a concert nor a lecture with a lantern intervenes to rescue the girls from the presumed tedium of mere youth and health! Everywhere the assumption that simple things have failed; that anything like hardy mental living and looking about for oneself, to find interests, is destined to end ill; that the only hope is to keep up the full dose of drugs, to be always pulling and pushing, prompting and coaxing and tickling the youthful mind into condescending to be interested. You know the effects: the adolescent whose mind seems to drop when taken out of the school shafts, or at least to look round, utterly at a loss, with a plaintive appeal for a suggestion of something to do, some excitement to come, something to make it worth while to be alive on this dull earth. We saw the effects in our hapless brain work in the war.

But if we were to wait to save England till thousands of men

and women brought up in this way see what they have lost and insist on a better fate for their children we might as well write England off as one with Tyre and Sidon already. Her case is too pressing. She cannot wait for big, slowly telling improvements in big institutions, although improvements must come. She has to be saved by a change in the individual temper. We each have to fall back, with a will, on the only way of life in which the sane simplicity of joy in plain things and in common rightness of action can be generated. Health of mind or body comes of doing wholesome things—perhaps for a long time without joy in doing them, as the sick man lies chafing, eating the slops that are all he is fit for, or as the dipsomaniac drinks in weariness and depression the insipid water that is to save him. Then, on some great day, self-control may cease to be merely the sum of many dreary acts of abstention; it may take life again as an inspiriting force, both a warmth and a light, such as makes nations great.

Chapter XVI

FAIR WARNING

(1)

To give the cure a chance we must have a long quiet time. And we must secure it now.

For the moment, no doubt, war has gone out of fashion; it pines in the shade, like the old horsehair covers for sofas, or antimacassars of lace. Hardly a day can pass, even now, but someone finds out, with a start and a look of displeasure, that war has been given its chance and has not done quite so well as it ought to have done. One man will write to the Press, in dismay, that the meals in the Simplon Express are not what they were in 1910. Another, outward bound by Calais to Cannes, has found that the hot-water plant in his sleeping-compartment struck work—and that in a specially cold sector down by the Alps. Thus does war, in the end, knock at the doors of us all: like the roll of the earth upon its axis, it brings us, if not death or destitution or some ashy taste in the mouth, at any rate a sense of a fallen temperature in our bunks. However non-porous our minds, there does slowly filter into us the thought that when a million of a country's men of working age have just been killed there may be a plaguey dearth of the man-power needed to keep in pleasant order the lavatories of its *trains de luxe*. Sad to think how many tender minds, formed in those Elysian years—Elysian for anyone who was not poor—before the war, will have to suffer, probably for many years, these little shocks of realization.

Surely there never was any time in the life of the world when it was so good, in the way of obvious material comfort, to be alive and fairly well-to-do as it was before the war. Think of the speed and comfort and relative cheapness of the Orient Express; of the way you could wander, unruined, through long æsthetic holidays in Italy and semi-æsthetic, semi-athletic holidays in the Alps; of the week-end accessibility of London from Northern England; of the accessibility of public schools for the

sons of the average parson or doctor; of the penny post, crown of our civilization—torn from us while the abhorred halfpenny post for circulars was yet left; of the Income Tax just large enough to give us a pleasant sense of grievance patriotically borne, but not to prostrate us, winter and summer, with two 'elbow jolts' or 'Mary Ann punches' like those of the perfected modern prize-fighter.

Many sanguine well-to-do people dreamt, in the August of 1914, that the war, besides attaining its primary purpose of beating the enemy, would disarrange none of these blessings; that it would even have as a by-product a kind of 'old-time Merrie England,' with the working classes cured of the thirst for wages and deeply convinced that everyone who was not one of themselves was a natural ruler over them. For any little expense to which the war might put us the Germans would pay, and our troops would return home to dismiss all trade-union officials and to regard the upper and middle classes thenceforth as a race of heaven-sent colonels—men to be followed, feared, and loved. Ah, happy vision, beautiful dream!—like Thackeray's reverie about having a very old and rich aunt. The dreamer awakes among the snows of the Mont Cenis with a horrid smell in the corridor and the hot-water pipes out of order. And so war has gone out of fashion, even among cheery well-to-do people.

(II)

But may it not come into fashion again? Do not all the great fashions move in cycles, like stars? When our wars with Napoleon were just over, and all the bills still to be paid, and the number of visibly one-legged men at its provisional maximum, must not many simple minds have thought that surely man would never idealize any business so beastly and costly again? And then see what happened. We were all tranquilly feeding, good as gold, in the deep and pleasant meadows of the long Victorian peace when from some of the frailest animals in the pasture there rose a plaintive bleat for war. It was the very lambs that began it. 'Shall we never have carnage?' Stevenson, the consumptive, sighed to a friend. Henley, the cripple, wrote a longing 'Song of the Sword.' Out of the weak came forth violence. Bookish men be-

gan to hug the belief that they had lost their way in life; they felt that they were Neys or Nelsons *manqués*, or cavalry leaders lost to the world. 'If I had been born a corsair or a pirate,' thought Mr Tappertit, musing among the ninepins, 'I should have been all right.' Fragile dons became connoisseurs, *faute de mieux*, of prize-fighting; they talked, nineteen to the dozen, about the still, strong man and 'straight-flung words and few,' adored 'naked force,' averred they were not cotton-spinners at all, and deplored the cankers of a quiet world and a long peace. Some of them entered quite hotly, if not always expertly, into the joys and sorrows of what they called 'Tommies,' and chafed at the many rumoured refusals of British innkeepers to serve them, little knowing that only by these great acts of renunciation on the part of licensees has many a gallant private been saved from falling into that morgue an 'officer house,' and having his beer congealed in the glass by the refrigerative company of colonels.

The father and mother of this virilistic movement among the well-read were Mr Andrew Lang, the most donnish of wits, and one of the wittiest. Lang would review a new book in a great many places at once. So, when he blessed, his blessing would carry as far as the more wholly literal myrrh and frankincense wafted abroad by the hundred hands of Messers Boot. The fame of Mr Rider Haggard was one of Lang's major products. Mr Haggard was really a man of some mettle. By persons fitted to judge he was believed to have at his fingers' ends all the best of what is known and thought by mankind about turnips and other crops with which they may honourably and usefully rotate. But it was for turning his back upon these humdrum sustainers of life and writing, in a rich Corinthian style, accounts of fancy 'slaughters grim and great,' that his flame lived and spread aloft, as Milton says, in the pure eyes and perfect witness of Lang. Another nursling of Lang's was the wittier Kipling, then a studious youth exuding Border ballads and Bret Harte from every pore, but certified to carry about him, on paper, the proper smell of blood and tobacco.

Deep answered unto deep. In Germany, too, the pibrochs of the professors were rending the skies, and poets of C4 medical grade were tearing the mask from the hideous face of peace. The din throughout the bookish parts of Central and Western Europe

suggested to an irreverent mind a stage with a quaint figure of some short-sighted pedagogue of tradition coming upon it, round-shouldered, curly-toed, print-fed, physically inept, to play the part of the war-horse in Job, swallowing the ground with fierceness and rage, and 'saying among the trumpets "Ha, ha!"' You may see it all as a joke. Or as something rather more than a joke, in its effects. Mr Yeats suggested that an all-seeing eye might perceive the Trojan War to have come because of a tune that a boy had once piped in Thessaly. What if all our millions of men had to be killed because some academic Struwwelpeter, fifty years since, took on himself to pipe up 'Take the nasty peace away!' and kick the shins of Concord, his most kindly nurse?

(III)

If he did, it was natural. All Struwwelpeters are natural. All heirs-apparent are said to take the opposite side to their fathers still on the throne. And those learned men were heirs to the age of the Crystal Palace, the age of the first 'Locksley Hall,' with its 'parliament of man' and 'federation of the world,' the age that laid a railway line along the city moat of Amiens and opened capacious Hôtels de la Paix throughout Latin Europe, the age when passports withered and Bædeker was more and more, the age that in one of its supreme moments of ecstasy founded the London International College, an English public school (now naturally dead) in which the boys were to pass some of their terms among the heathen in Germany or France.

The cause of peace, like all triumphant causes, good as they may be, had made many second-rate friends. It had become safe, and even sound, for the worldly to follow. The dullards, the people who live by phrases alone, the scribes who write by rote and not with authority—most of these had drifted into its service. It had become a provocation, a challenge, vexing those 'discoursing wits' who 'count it,' Bacon says, 'a bondage to fix a belief.' A rebound had to come. And those arch-rebounders were men of the teaching and writing trades, wherein the newest fashions in thought are most easily canvassed, and any inveterate acquiescence in mere common sense afflicts many bosoms with the fear of lagging yards and yards behind the foremost files of

time; perhaps—that keenest agony—of having nothing piquant or startling to say, no little bombs handy for conversational purposes. 'I sat down,' the deserving young author says in *The Vicar of Wakefield*, 'and, finding that the best things remained to be said on the wrong side, I resolved to write a book that should be wholly new. I therefore dressed up three paradoxes with some ingenuity. They were false, indeed, but they were new. The jewels of truth have been so often imported by others that nothing was left for me to import but some splendid things that, at a distance, looked every bit as well.' 'Peace on earth, goodwill towards men,' 'Blessed are the peacemakers'—these and the like might be jewels; but they were demoded; they were old tags; they were clichés of bourgeois morality; they were *vieux jeu*, like the garnets with which, in *She Stoops to Conquer*, the young woman of fashion declined to be pacified when her heart cried out for the diamonds.

(IV)

Then the Church itself must needs take a hand—or that part of the Church which ever cocks an eye at the latest fashions in public opinion, the 'blessed fellows,' like Poins, that 'think as every man thinks' and help to swell every passing shout into a roar. I find among old papers a letter written in Queen Victoria's reign by an unfashionable curmudgeon whose thought would not keep to the roadway like theirs. 'I see,' this rude ironist writes, 'that "the Church's duty in regard to war" is to be discussed at the Church Congress. That is right. For a year the heads of our Church have been telling us what war is and does—that it is a school of character, that it sobers men, cleans them, strengthens them, knits their hearts, makes them brave, patient, humble, tender, prone to self-sacrifice. Watered by "war's red rain," one bishop tells us, virtue grows; a cannonade, he points out, is an "oratorio"—almost a form of worship. True; and to the Church men look for help to save their souls from starving for lack of this good school, this kindly rain, this sacred music. Congresses are apt to lose themselves in wastes of words. This one must not —surely cannot—so straight is the way to the goal. It has simply to draft and submit a new Collect for "war in our time," and to

call for the reverent but firm emendation, in the spirit of the best modern thought, of those passages in Bible and Prayer-book by which even the truest of Christians and the best of men have at times been blinded to the duty of seeking war and ensuing it.

'Still, man's moral nature cannot, I admit, live by war alone. Nor do I say, with some, that peace is wholly bad. Even amid the horrors of peace you will find little shoots of character fed by the gentle and timely rains of plague and famine, tempest and fire; simple lessons of patience and courage conned in the schools of typhus, gout, and stone; not oratorios, perhaps, but homely anthems and rude hymns played on knife and gun, in the long winter nights. Far from me to "sin our mercies" or to call mere twilight dark. Yet dark it may become. For remember that even these poor makeshift schools of character, these second-bests, these halting substitutes for war—remember that the efficiency of every one of them, be it hunger, accident, ignorance, sickness or pain, is menaced by the intolerable strain of its struggle with secular doctors, plumbers, inventors, schoolmasters, and policemen. Every year thousands who would in nobler days have been braced and steeled by manly tussles with smallpox or diphtheria are robbed of that blessing by the great changes made in our drains. Every year thousands of women and children must go their way bereft of the rich spiritual experience of the widow and the orphan. I try not to despond, but when I think of all that Latimer owed to the fire, Regulus to a spiked barrel, Socrates to prison, and Job to destitution and disease—when I think of these things and then think of how many of my poor fellow creatures in our modern world are robbed daily of the priceless discipline of danger, want, and torture, then I ask myself—I cannot help asking myself—whether we are not walking into a very slough of moral and spiritual squalor.

'Once more, I am no alarmist. As long as we have wars to stay our souls upon, the moral evil will not be grave; and, to do the Ministry justice, I see no risk of their drifting into any long or serious peace. But weak or vicious men may come after them, and it is now, in the time of our strength, of quickened insight and deepened devotion, that we must take thought for the leaner years when there may be no killing of multitudes of Englishmen, no breaking up of English homes, no chastening blows to English

trade, no making, by thousands, of English widows, orphans, and cripples—when the school may be shut and the rain a drought and the oratorio dumb.'

But what did a few unfashionable curmudgeons count for, against so many gifted divines?

(V)

And yet all mortal things are subject to decay, even reactions, even decay itself, and there comes a time when the dead Ophelia may justly be said to be not decomposing, but recomposing successfully as violets and so forth. Heirs-apparent grow up into kings and have little heirs of their own who, hearkening to nature's benevolent law, become stout counter-reactionists in their turn. So now the pre-war virilists, the literary braves who felt that they had supped too full of peace, have died in their beds, or lost voice, like the cuckoos in June, and a different breed find voice and pipe up. These are the kind, the numerous kind, whose youth has supped quite full enough of war. For them Bellona has not the mystical charm, as of grapes out of reach, that she had for the Henleys and Stevensons. All the veiled-mistress business is off. Battles have no aureoles now in the sight of young men as they had for the British prelate who wrote that old poem about the 'red rain.' The men of the counter-reaction have gone to the school and sat the oratorio out and taken a course of the waters, after the worthy prelate's prescription. They have seen trenches full of gassed men, and the queue of their friends at the brothel-door in Bethune. At the heart of the magical rose was seated an earwig.

Presently all the complaisant part of our Press may jump to the fact that the game of idealizing war is now, in its turn, a back number. Then we may hear such a thudding or patter of feet as Carlyle describes when Louis XV was seen to be dead and the Court bolted off, *ventre à terre*, along the corridors of Versailles, to kiss the hand of Louis XVI. And then will come the season of danger. Woe unto Peace, or anyone else, when all men speak well of her, even the base. When Lord Robert Cecil and Mr Clynes and Sir Hubert Gough stand up for the peace which ex-soldiers desire, it is all right. But what if Tadpole and

Taper stood up for it? What if all the vendors of supposedly popular stuff, all the timid gregarious repeaters of current banalities, all the largest circulations in the solar system were on the side of peace, as well as her old bodyguard of game disregarders of fashion and whimsical stickers-up for Christianity, chivalry, or sportsmanship?

We must remember that, in the course of nature, the proportion of former combatants among us must steadily decline. And war hath no fury like a non-combatant. Can you not already forehear, in the far distance, beyond the peace period now likely to come, the still, small voice of some Henley or Lang of later days beginning to pipe up again with Ancient Pistol's ancient suggestion: 'What? Shall we have incision? Shall we imbrue?' And then a sudden *furore*, a war-dance, a beating of tomtoms. And so the whole cycle revolving again. 'Seest thou not, I say, what a deformed thief this fashion is? How giddily a' turns about all the hot bloods between fourteen and five-and-thirty? Sometimes fashioning them like Pharaoh's soldiers in the reechy painting, sometimes like god Bel's priests in the old church window; sometimes like the shaven Hercules in the smirched worm-eaten tapestry?' Anything to be in the fashion.

There is only one thing for it. There must still be five or six million ex-soldiers. They are the most determined peace party that ever existed in Britain. Let them clap the only darbies they have—the Covenant of the League of Nations—on to the wrists of all future poets, romancers, and sages. The future is said to be only the past entered by another door. We must beware in good time of those boys, and fiery elderly men, piping in Thessaly.